मुक्ति-पथ

नाटक

नाटककार

श्री उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक
अवध पब्लिशिंग हाउस
लखनऊ

मूल्य १।।)

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

भूमिका

अंधानुकरण मत करो। सोचो और प्रयोग करो, इसी में जीवन की सार्थकता है।

'मुक्ति-पथ' मेरा तीसरा ऐतिहासिक नाटक है। दाहर और विक्रमादित्य दोनों नाटक इतिहास की छान-बीन के आधार पर लिखे गये हैं। इसी तरह इस नाटक के मूलाधार में गौतम का ऐतिहासिक विकास है। गौतम बुद्ध भारत के महापुरुष हो चुके हैं। उनकी वाणी से एकबार आधे से अधिक एशिया प्रभावित हो चुका है, और है। उन्होंने मनुष्य के दुख से पीड़ित होकर उसके उद्धार का उपाय खोजा और उसके लिए अपने शरीर को गलाकर शुद्ध, सरल और सत्यमार्ग को पाने की चेष्टा की।

प्रश्न यह है—जब मनुष्यमात्र एक हैं, उनके दुख-सुख, परिस्थिति, प्रभाव एक-से हैं तब महापुरुषों के दुख का निदान भिन्न-भिन्न क्यों होता है! क्यों नहीं ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, गांधी आदि का मनुष्य के उद्धार के लिये एक ही निदान होता, क्यों नहीं भिन्न-भिन्न दिशाओं, उपदेशों द्वारा उन्होंने एक ही प्रकार के सत्य का प्रयोग किया? जब सत्य एक है तब उसका एक ही रूप में प्रकट न होना निश्चय करता है कि या तो इन लोगों का निदान, दृष्टि, योग्यता भेद से है अथवा उनके दर्शन में त्रुटि है। इसका उत्तर देकर मैं आगे चलूँगा। मैं समझता हूँ इन सब महापुरु

सत्य-दर्शन को भिन्न-भिन्न वातावरणों में रँगकर मनुष्य के सामने रखा है। वस्तुतः सत्य सब जगह एक है किन्तु उपादेयता के भेद से उसमें अंतर दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये भिन्न-भिन्न रोगों पर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की औषध दी जाती है; इसी प्रकार देश, काल, जाति के भेद से उन्होंने वास्तविक सत्य को मनुष्य के उपयोगी बनाकर उसे दिया है।

परिस्थिति मनुष्य की उन्नति का सबसे बड़ा कारण है। अपितु वही उसके निर्माण का मूल है। यही बात है कि परिस्थिति बदलते ही इन महापुरुषों के उपदेश पुराने हो जाते हैं। उनकी उपादेयता घट जाती है। बुद्धिमान् को कदाचित् उनके सत्य-दर्शन से ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता रहे। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक महापुरुष जो अपने तप, साधना से लोक को नया मार्ग दिखा जाते हैं उनके बाद उनके अनुयायियों द्वारा उसमें संकीर्णता, कट्टर अंध-विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उस ज्ञान-दर्शन का ह्रास हो जाता है। यही गौतम के बाद हुआ, यही ईसा के बाद हुआ।

जिस अज्ञान के कूड़े-कचरे को साफ़ करने से ऐसे महापुरुष आते हैं, उससे अधिक अज्ञान उनके अनुयायियों द्वारा फैल जाता है। उसका कारण है उन अनुयायियों का स्वार्थ, उनकी क्षुद्रता, उनकी उस विशाल ज्ञान के प्रति अक्षमता। वे लोग मठ बनाकर अनुयायियों की संख्या बढ़ाकर उस महापुरुष के संपूर्ण तपोबल-प्राप्त ज्ञान का नाश करके फिर संसार में दुख की वृद्धि कर देते हैं। यह सब कुछ तो इसलिये होता है कि जिस परिस्थिति के लिये उनका ज्ञानालोक था; वह नहीं रहता और दूसरी परिस्थितियाँ आकर मनुष्य को जकड़ लेती हैं। कुछ इसलिये भी कि उनका

सत्य-दर्शन एकांगी होता है। बुद्ध के इस दर्शन ने जहाँ मनुष्य के दुख को दूर करने का उपाय बताया, वहाँ उनके बाद भारत में जड़ता, अहिंसा के द्वारा पौरुष का ह्रास हो गया। शत्रु के आक्रमण करने पर भी बौद्ध लोग बुद्ध की प्रतिपादित अहिंसा को आँचल में दबाये बैठे रहे और शत्रु के सामने आत्मसमर्पण कर दिया! इसके उपायस्वरूप शंकर के वेदान्त ने तो भारत को एकदम निकम्मा कर दिया। 'अहं ब्रह्मास्मि' ने पौरुषमय ब्रह्म की सत्ता को हटाकर शत्रु, मित्र, स्वामी, प्रजा के भेद-भाव को नष्ट करके भारत में एक और दुख की सृष्टि कर दी।

मैं मानता हूँ, दुख मनुष्य की अपनी सृष्टि है। वह एक औषध द्वारा प्रयत्न करता है, दुख निवारण का तो दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है। 'कुनेन' मलेरिया के लिये रामबाण है तो कुनेन के प्रयोग से अन्य रोग भी तो हो जाता है। कल्पना कीजिये एक निर्बल मनुष्य ने डाक्टर के कहे अनुसार 'सिद्ध मकरध्वज' या इसी प्रकार एक 'टानिक' लिया। उसका प्रयोग करते ही सबल हो जाने पर यदि उसने विवेक से काम न लिया (जैसा कि प्रायः जनसाधारण में स्वाभाविक है) तो अतिशय संभोग द्वारा वह समाज में गड़बड़ी मचा देता है। समाज में व्यभिचार फैल जाता है। उसका प्रभाव सूक्ष्म रूप से व्यापक होकर रोग की तरह फैलता है और काल पाकर वही समाज के विनाश का कारण बनता है। इस बात को मैंने विस्तार से नहीं कहा फिर भी समझ लेना चाहिये कि जो यौवन मनुष्यता का मूल कारण है; वह उसके विनाश का कारण भी है। जो पृथ्वी, धन उसके सुख, आनंद का कारण है, वही उसके लड़ने संघर्ष करने का भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के एक वस्तु के प्रति ज्ञान ने उसे दूसरी वस्तु के अज्ञानजन्य दुख को उत्पन्न करने में सहारा दिया है। संसार में सदा से यही होता रहा है। महापुरुष जिस रोग का निदान ढूँढ़ते हैं; उस निदान के दुरुपयोग से दूसरे कष्ट आकर मनुष्य को सताने लगते हैं और मनुष्य उस दूसरे कष्ट द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक पीड़ित होता है। धर्म में यही है, समाज में भी यही और राजनीति में भी यही क्रम रहा है। इसका कारण मुझे ऐसा देख पड़ता है कि मनुष्य अपूर्ण है। महापुरुषों का निदान भी इसीलिये एकांगी अपूर्ण होता आया है।

यथार्थ दर्शन कभी व्यापक नहीं होता। वह देश-काल से प्रभावित होता है। इसीलिये उसके द्वारा देखे गये रोग का निदान भी व्यापक नहीं हो सकता। यही पर्यायवाद में एक दोष है, उसमें सर्वव्यापकता नहीं होती और व्यापकता न होने से वह काल तथा देश से परिच्छिन्न हो जाता है। किन्तु यथार्थ दर्शन में मूल कारण की—मूल दोष की एक लहर होती है, जो व्यापक होती है। जिस असंतोष की आग ने भीतर ही भीतर रूस को उठने के लिये व्यग्र कर दिया, वही सूक्ष्म रूप से भारत में भी है। वही योरोप के अन्य देशों में भी है; किन्तु उस असंतोष के नाश का निदान सब जगह एक-सा नहीं हो सकता। कुछ उलट फेर के साथ उसका उपचार होना चाहिये, नहीं तो एक रोग के रहते दूसरा रोग हमारे शरीर में प्रवेश कर जायगा। कम्यूनिज़्म का सिद्धान्त भी जहाँ मनुष्य के रोग का एक स्पष्ट निदान है, वहाँ उसमें भी दोष हैं। वह मानता है 'संपत्ति-संग्रह' चोरी है। (Properuy is theft) समाजवाद पूंजीवाद की आलोचना है। समाजवाद पूँजीवाद के विरुद्ध एक

युद्ध है। समाजवादी कहता है कि भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति का चोली दामन का साथ है। वह सादगी और दरिद्रता में कोई अंतर नहीं समझता। वह चाहता है कि एक ऐसी परिस्थिति बन जाय, जिसमें मनुष्य की अधिकतर आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। साथ ही साथ उन्नति के उपायों की इतनी खोज कर ली जाय कि दिन में केवल तीन या चार घंटे काम करने की आवश्यकता हो। वह समाजवाद द्वारा व्यक्तिमात्र को समान रूप से देखना चाहता है। वह चाहता है, समाज का शासन ही व्यक्ति का शासन हो। प्रत्येक व्यक्ति वही सोचे, वही करे, जिसका विधान समाज करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति का रहन-सहन, उठना-बैठना, सोचना-विचारना एक ही पद्धति का होना चाहिये आदि-आदि।

इस प्रकार की सामाजिकता में दो बातें हैं। एक तो यह कि समाजवाद पूर्णतः भौतिक है उसमें आध्यात्मिकता को कोई स्थान नहीं है। इसमें यदि कोई आध्यात्मिकता है तो इतनी ही कि समाजवादी प्रत्येक प्राणी को द्वन्द्वात्मक भौतिक पद्धति से, जिसका हैगल और मार्क्स ने प्रतिपादन किया है, सोचे। उसी प्रकार से सत्यासत्य का विश्लेषण करे। उन दोनों का यह कथन कि—'सत्य उन्नति विरोधी तत्वों के संघर्ष से उत्पन्न होते हैं। द्वन्द्वात्मक संघर्ष के द्वारा ही मनुष्य उन्नति करता है।' सर्वांश में पूर्ण नहीं है। क्योंकि हैगल और मार्क्स दोनों आगे चलकर एक दूसरे से मतभेद रखते हैं। हैगल का विश्वास है कि वस्तुएँ विचार का प्रतिबिम्ब मात्र इसलिये विचारों की सृष्टि ही वास्तविक सृष्टि है किन्तु मार्क्स इस बात को नहीं मानते। वे नित्यप्रति के अनुभव को मुख्य मानते

हैं। वे कहते हैं, 'जो वस्तुएँ हम प्रतिदिन देखते, अनुभव करते हैं, वे ही अन्तिम हैं। इससे आगे जाना ठीक नहीं है; क्योंकि इससे आगे तो कुछ है ही नहीं।'

मेरा विश्वास है कि ये दोनों मत अपने में पूर्ण नहीं हैं। न तो प्रतिदिन की सृष्टि ही वास्तविक है, न मनुष्य का अनुभव। दोनों ही भ्रान्त हो सकते हैं, दोनों में वास्तविकता का अभाव हो सकता है। क्योंकि अनुभव सदा एक व्यक्ति के दूसरे से भिन्न होते हैं। अनुभव के लिये जो दृष्टि होती है, वह व्यक्ति की परिस्थिति से बनती है। इसी तरह वस्तु दर्शन भी यथार्थ नहीं हो सकता। वस्तु स्वयं उपयोगिता पर निर्भर करती है, उपयोगिता मनुष्य की दशा पर। जिस सत्य को हम उन्नति विरोधी तत्त्वों द्वारा प्राप्त करते हैं, वह अवस्था में उन्नति के कारण सत्य हो सकता है। वह अपेक्षाकृत सत्य है, वस्तुतः सत्य नहीं हो सकता। सत्य कदाचित् इन दोनों से परे है। जब सत्य की प्राप्ति हैगल और मार्क्स दो विरोधी तत्त्वों द्वारा मानते हैं तब वे परंपरा से इसी प्रकार के निरन्तर मनुष्य के लिए उपयोगी सत्य की सृष्टि भी मानते हैं। किन्तु यह संभव नहीं है। या तो वे प्रयोग प्राप्त सत्य सत्य नहीं हैं अन्यथा फिर एक सत्यवाद में असत्य कैसे हो जाता। इसको स्वीकार करके पहले प्रयोग को सत्य मानना भूल होगी। मेरा विश्वास है जीवन एक प्रयोग है। प्रयोग में ग़लती भी होती है और कभी वह सही भी होता है। इसमें जो असत्य हो, उसको छोड़ते जाना चाहिये, जो सत्य कल्याण-कारक मिले, उसको स्वीकार करते चलना चाहिये। बिल्कुल निश्चित रूप से कोई सिद्धान्त बना बैठना और उसके लिये मरने-मारने तक को उतारू हो जाना कभी श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

कम्यूनिज़्म की कट्टरता में भी वही दोष हैं, जो इन महापुरुषों के चलाये मार्गों में।

दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ, कम्यूनिज़्म में व्यक्तिवाद का ह्रास है।

क्या यह कभी संभव हुआ है कि समाजवाद के शासन में सब व्यक्ति एक ही प्रकार से सोचें। मनुष्य यंत्र या मशीन तो है, नहीं कि वह एक ही प्रकार से अपनी बुद्धि का उपयोग करेगा। इसका अर्थ दूसरे शब्दों में तो यह हुआ कि मनुष्य के सोचने की इति हो गई। क्योंकि कोई भी बात जो कम्यूनिज़्म के विरुद्ध है वह सोच नहीं सकता। समाज का विधान वैसा करने पर उसे दण्ड देगा। इसके अतिरिक्त कम्यूनिज़्म एक प्रयोग है, वह भी अभी तक पूरा नहीं हुआ। जिस रूस का उदाहरण भारत का समाजवादी हमारे सामने पेश करता है, उसके प्रयोग को अभी दिन ही कितने हुए हैं?

मैं स्वयं कम्यूनिज़्म को इस समय की एकमात्र औषध मानता हूँ किन्तु इतने ही रूप में जितने से व्यक्ति की शुद्ध आलोचना पद्धति की हत्या न हो सके।

इसी प्रकार गांधीवाद भी दोषपूर्ण है। गांधीवादी गाँवों की ओर मनुष्य को ले जाकर उसकी आवश्यकताओं को कम करके मशीन का नाश करना चाहता है। वह भी किसी प्रकार संभव नहीं है। यह तो ऐसे हुआ कि किसी एम० ए० पास विद्यार्थी से कहा जाय कि तू सब भूलकर पहली श्रेणी में प्रविष्ट हो जा। न तो मनुष्य का इतना आगे बढ़कर पीछे हटना संभव है न उपादेय ही। इसके अतिरिक्त जब गांधीवाद धनी को राष्ट्र का रक्षक कहकर पुकारता है तब तो उस पर हँसी आये बिना नहीं रहती। धन

स्वयं एक ऐसा नशा है, जो मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देता। उस अवस्था में क्या यह कभी संभव है कि गांधीवाद की पद्धति से धनी वास्तविक समाज का निर्माण करके समता प्रदान कर सके ? इसी प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त भी सर्वकालीन नहीं हो सकता। गांधीवाद के प्रयोग तो कम्यूनिज़्म से भी अधूरे हैं। न तो उन प्रयोगों को सफलता ही प्राप्त हुई है न मनुष्य-समाज का ही निर्माण उनसे हो सका है।

वस्तुतः कट्टरता एवं आत्मनिर्भर रहकर अपने को पूर्णता की ओर पहुँचने की मनुष्य की पद्धति उसकी शत्रु है। इसी से उसके दुख बढ़े हैं। इसलिये अन्धानुकरण मत करो, सोचो और प्रयोग करो—इसी में जीवन की सार्थकता है।

× × ×

यह नाटक मूलतः रोमाण्टिक और विचार-प्रधान है। इसमें एक दृश्य में बुद्ध की जिज्ञासा का बढ़ाना चाहता था। वह इसलिये कि इससे सत्य की खोज के लिये बुद्ध की जिज्ञासा और भी प्रबल हो जाती। वह ईश्वर, प्रकृति तथा मनुष्य के दुख के निदान को पूर्णतः खोजते किन्तु ऐसा जान-बूझकर नहीं किया, इससे नाटक में नीरसता की वृद्धि होती। नाटक में वैसी विचारधारा खेलनेवाले को नीरस लगती। उसका एक कारण तो यह है कि जो लोग नाटक खेलते हैं वे प्रायः ऐसे स्थल उड़ा देते हैं। मैंने अपने आप देखा है कि नाटक को वे केवल अपने मतलब का बनाकर उसका रूप बिगाड़ देते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें स्वयं ग्राह्य-अग्राह्य की विवेचना का अभाव रहता है।

बुद्ध भारतीय इतिहास के उज्ज्वल रत्न हैं। उनके चरित्र, उनकी दृढ़ता, आत्मज्ञान की खोज के लिये उनका त्याग भारत के लिये ही नहीं विश्व के लिये अनुकरणीय है। इन्हीं सब बातों को सोचकर उनके ऊपर लिखने की मेरी इच्छास्वरूप यह नाटक पाठकों, दर्शकों को भेंट किया जाता है। अपनी ओर से मैं इतना कह सकता हूँ कि मुझे यह नाटक अच्छा लगा है।

६ सितम्बर, १९४४
सनातनधर्म कालेज,
लाहौर।

उदयशंकर भट्ट

हिन्दी-राष्ट्र के गांधी
बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन
के
सबल करों में

—उदयशंकर भट्ट

पात्र सूची

शुद्धोदन	कपिलवस्तु का राजा
कुमार सिद्धार्थ (गौतम) बुद्ध	शुद्धोदन के पुत्र
देवदत्त	मंत्री का पुत्र, सिद्धार्थ का सहचर
साधुक	सिद्धार्थ का सहचर
सुमुख	राजकवि
छंदक	सारथि
शूद्रक	एक शूद्र
छाया चित्र	सिद्धार्थ के विचार का चित्र
आकाड़ कालाम	सिद्धार्थ के गुरु
कौण्डिन्य	शिष्य
अश्वजित्	,,
वप्र	,,
भद्रक	,,
बिम्बसार	एक राजा
राहुल	सिद्धार्थ का पुत्र
गोपा	सिद्धार्थ की स्त्री
सुकेशी	सिद्धार्थ की स्त्री की सहचरी
गौतमी	मौसी
विद्युन्माला	गोपा की सखी
सुजाता	एक सेठ की कन्या

महामात्य, परिचारिकाएँ, कंचुकी, ब्राह्मण, पंडित, पागल, जनता के लोग आदि ।

शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
७	१३	भरी	मरी
७	१७	झपटकर	रपटकर
२१	१८	महामात्य	महात्मा
२६	१४	राजकवि-कला	राजक-त्रिकला
२६	२१	बहका दिया	पटक दिया
३६	७	जैसी	जैसा
५१	१६	कुन्त	कुल
६२	६	न्हायें	न्हायँ
८६	५	होगया	होगा
६१	१४	सिद्धार्थ (कह रहे हैं)	
६३	८	विनही सहारे,	वे ही सहारे

मुक्ति-पथ

पहला अङ्क

पहला दृश्य

[संध्या समय--एक छायादार बटवृक्ष के नीचे राजकुमार सिद्धार्थ अपने समवयस्क मित्रों के साथ बैठे हैं। सिद्धार्थ की वयस लगभग सोलह वर्ष की, वीरता, सुन्दरता की मूर्ति। अधोभाग में कौशेय-पट, ऊपर जरीदार लाल रेशम की झगुली। रत्नजटित अंगद और कंकण पहने हैं। लाल और पन्ने से जड़ी हुई अँगूठियाँ उँगलियों में। गले में मोतियों का हार। तूणीर बाणों से भरा हुआ। एक तरफ धनुष लटक रहा है। मंत्री-पुत्र देवदत्त तथा नागरिक मित्र साधुक उसी वेश भूषा में]

सिद्धार्थ—कहो मित्र साधुक, इस बार मृगया में कुछ आनंद आया?

साधुक—(जो न जाने क्या सोच रहा है) गुरु जी कहते हैं—कुछ-न-कुछ सोचते रहना चाहिए। किन्तु समझ में नहीं आता कि क्या सोचूँ? ठीक, यह एक वृक्ष है, कितना लंबा होगा? बहुत नहीं, फिर भी साधारण वृक्षों से बड़ा है। हाँ, इसके पत्ते दूसरे वृक्षों से भिन्न अवश्य हैं। ठीक, आगे...हाँ आगे भी......।

सिद्धार्थ—साधुक, हमारी बात का कोई उत्तर नहीं?

देवदत्त—एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य को हाथ का अँगूठा भेंट दिया था। किन्तु साधुक महाशय सोचते हैं मैं भेंट में पैर की एक

अंगुलि ही दूँ। पर प्रश्न यह है कौन सी अंगुलि दी जाय? दुर्भाग्य से पैर की अँगुलियों का कोई प्रसिद्ध नाम भी तो नहीं है?

साधुक—नहीं, यह बात नहीं है। मैं सोचता हूँ, अमरवल्ली को लता कहना घोर मूर्खता है। और लताओं के तो जड़ होती है किन्तु इसका तो कोई मूल ही नहीं होता। प्रश्न अधूरा होते हुए भी संगत है। आज ही गुरु जी ने बताया था कि प्रश्न सार्थक होना चाहिए। किन्तु प्रश्न यह है......।

सिद्धार्थ—(हँसकर) ठीक, 'प्रश्न' को प्रश्न कहना ही पहले सिद्ध करना होगा। यदि प्रश्न की जगह उत्तर होता और उत्तर की जगह प्रश्न तो......?

देवदत्त—तो उत्तर पहले होता और प्रश्न बाद को। मूल पीछे और शाखा पहले। पुत्र पहले और पिता उसके पश्चात्।

साधुक—सोचने का यह भी एक प्रकार है। गुरु जी कहते हैं सोचते जाओ। तुम्हें मालूम है सिद्धार्थ, आज मैंने गुरु जी से पूछा कि दार्शनिक बनने का क्या उपाय है? उन्होंने कहा, सोचना। बस तभी से मैं सोच रहा हूँ।

देवदत्त—तुम्हारा सोचने का प्रकार बिलकुल अशुद्ध है।

साधुक—किस तरह!

देवदत्त—इस तरह सोचो कि यदि वृक्ष के मनुष्य की तरह सिर लग जाता और मनुष्य के हाथी के कान, गधे की पूछ होती तो वह कितना सुंदर लगता?

साधुक—नहीं, नहीं तुम हँसी समझते हो। मैं सचमुच शीघ्राति-शीघ्र दार्शनिक हो जाने की चिन्ता में हूँ।

सिद्धार्थ—इतनी जल्दी भी क्या है ! यदि दो चार दिन का विलम्ब ही हो गया तो कौन पहाड़ टूट पड़ेगा ?

देवदत्त—आप नहीं जानते कुमार। साधुक को एक ज्योतिषी ने बताया है।

सिद्धार्थ—क्या ?

साधुक—कुछ मेरे सम्बन्ध में कह रहे हो ? मैं यह सोच रहा था कि......।

देवदत्त—जी, आपही के सम्बन्ध में। ऐसी महान् आत्माएँ संसार में आती ही कब हैं ?

साधुक—(दाँत निपोरकर) यह तो मैं कैसे कहूँ। हाँ, ज्योतिषी ने मेरे सम्बन्ध में तुम्हें क्या बताया था ?

देवदत्त—कहा था, शुभ संवत्सर के मिथुनार्क में माघ कृष्ण द्वादशी के दिन ८ घड़ी ४० पल तृतीय प्रहर में एक दार्शनिक बालक का जन्म श्रेष्ठिवर कुन्त के यहाँ होगा।

साधुक—नहीं युवराज, मैंने निश्चय किया है कि मैं दार्शनिक बनूँगा। देवदत्त तो हँसते हैं।

सिद्धार्थ—तो साधुक, दार्शनिक होते ही तुम क्या हो जाओगे ?

साधुक—युवराज, दार्शनिक होते ही मनुष्य सब कुछ जान जाता है।

सिद्धार्थ—अर्थात्।

साधुक—यही कि...ठहरो मैं सोच लूँ। अभी हो तो नहीं गया हूँ।

देवदत्त—दार्शनिक होने के लिए कुछ उपाय भी करने चाहिए, वह तुमने कहाँ किए हैं ?

साधुक—हाँ, वह भी कह डालो। मैं किसी तरह का अभाव अपने

में नहीं रहने देना चाहता। कहो, किन्तु तुम तो अभी दार्शनिक हो नहीं। फिर मैं तुम्हारी वात कैसे मान लूँ? प्रश्न यह है।

सिद्धार्थ—(हँसकर) यह प्रश्न नहीं, उत्तर है।

साधुक—तुमने ठीक कहा, यह उत्तर है। मैं सोचता हूँ क्या आठवाँ पदार्थ नहीं हो सकता? यदि मैं दार्शनिक वन कर आठवाँ पदार्थ सिद्ध कर दूँ तो कितना यश हो युवराज?

देवदत्त—व्यर्थ, तुम कहो नौ पदार्थ हैं। द्रव्यागुण, कर्म, विशेष सामान्य, समवाय, अभाव और मेरी चिन्ताएँ, सोचने का प्रकार।

साधुक—नहीं नहीं, कुछ और सोचो। गुरु जी ठीक कहते हैं, सोचते रहना चाहिए।

सिद्धार्थ—अच्छा यह वताओ, आज तुम्हें मृगया में कुछ आनन्द आया?

साधुक—'आनन्द' यह भी एक सोचने की वस्तु है। प्रश्न यह है आनंद हृदय की वस्तु है, अथवा मस्तिष्क की।

देवदत्त—अशुद्ध, यह अनुभव की चीज है, सोचने की नहीं। तुम दार्शनिक नहीं वन सकते।

साधुक—क्या सचमुच? नहीं, ऐसा न कहो भाई।

(अंग-रक्षक ढेर-ढेर सब मारे हुए पशु लाकर पटक देते हैं।)

देवदत्त—देखो कुमार, यह हरिणी है। मैंने पेट फाड़कर इसके बच्चे को निकाला है। कहाँ है वह बच्चा? ले आओ! (अंगरक्षक उस खून से लथपथ अधमरे बच्चे को लाता है)

अंगरक्षक—जी तो जायगा। किन्तु...।

दूसरा—आँखें अभी वंद हैं। साँस ले रहा है।

सिद्धार्थ—(उसे ध्यान से देखकर) कितना निरीह पशु है ! तुमने बुरा किया देवदत्त। (उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए।) इसे थोड़ा जल दो। (अंगरक्षक दौड़कर पानी लाकर उसके गले में डालते हैं) ऐसे पशुओं को मारने में कोई वीरता नहीं है।

देवदत्त—आप बड़े भावुक हृदय हैं कुमार—मृगया के दो अर्थ हैं दुष्ट पशुओं की हिंसा और भोजन।

सिद्धार्थ—हरिणी के पेट से निकले इस शावक को देखकर न जाने मुझे कैसा हो रहा है !

साधुक—(सोचता हुआ) जड़ का वृक्ष की चोटी से सीधा सम्बन्ध क्या हो सकता है, यही सोच रहा हूँ।

देवदत्त—सोचो। (दो मछुए मछलियों की टोकरी लिए आते हैं।)

पहला—चौधरी ने युवराज की भेंट के लिए यह टोकरी भेजी है। वह स्वयं भी आ रहे हैं।

देवदत्त—राजा स्वयं प्रजा को ईश्वर का दिया हुआ उपहार है। मछलियाँ तो अच्छी देख पड़ती हैं।

पहला—इस प्रान्त में इससे सुन्दर और स्वादिष्ट मछली है ही नहीं श्रीमान् ! स्वयं महाराज की सेवा में कभी-कभी यही मछली जाती है।

दूसरा—ए, ए, ए, ए, (हाथ हिलाकर कुछ संकेत करता है।)

सिद्धार्थ-देवदत्त—हैं यह क्या ? क्या यह बोलता नहीं है ? इसे क्या हो गया ?

पहला—यह गूँगा है महाराज !

सिद्धार्थ—गूँगा क्या ! क्या ऐसा भी मनुष्य होता है ? (आश्चर्य में भर जाते हैं)

पहला—यह बोल नहीं सकता, यह सुन भी नहीं सकता।

सिद्धार्थ—तो यह अपना कार्य कैसे चलाता होगा? महान् आश्चर्य है देवदत्त!

(गूँगा 'ए, ए, ए, ए' करता है, हाथ से संकेत करके न जाने क्या क्या कहता है और हँसता है।)

देवदत्त—यह प्रकृति का विकार है, यह क्या कह रहा है? यह बोल नहीं सकता, सुन भी नहीं सकता।

पहला—हाँ महाराज, यह सुन भी नहीं सकता। यह कहता है मुझे कुछ भी कष्ट नहीं है।

सिद्धार्थ—सुन भी नहीं सकता?

पहला—नहीं, सुन भी नहीं सकता।

देवदत्त—इसके नेत्र बड़े तीव्र हैं। इन्हीं के द्वारा यह काम चलाता है।

साधुक—हैं-हैं! क्या ऐसा भी होता है?

सिद्धार्थ—(सोचते हुए) महान् आश्चर्य है देवदत्त।

देवदत्त—हमारे नगर में ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जो सुन नहीं सकते, बोल नहीं सकते, देख नहीं सकते।

सिद्धार्थ—देख भी नहीं सकते! मैं उनको देखना चाहता हूँ।

साधुक—मैं सोचता हूँ यदि इसके जिह्वा नहीं है तो यह भोजन कैसे करता होगा!

साधुक—मनुष्य जीवन में रोता अधिक है, या हँसता अधिक है। हाँ।

सिद्धार्थ—ऐसा ही है क्या? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

देवदत्त—मैं ठीक कह रहा हूँ कुमार। यह तो संसार है, यहाँ बूढ़े, जवान, लूले, लँगड़े, अंधे, काने सभी हैं।

सिद्धार्थ—यह सब कुछ मेरी समझ में नहीं आता भाई।

मछुआ—युवराज चाहें तो यह गूँगा अपना नाच दिखावे। यह गाता है।

साधुक—यह तो क्रिया है न ? किन्तु प्रश्न यह है, कौन सी क्रिया है सकर्मक या अकर्मक ?

देवदत्त—हाँ, हाँ, इससे कहो कि यह नाचे।

(मछुआ गूँगे को संकेत से नाचने के लिए कहता है । गूँगा नाचने लगता है। ए ए ए ए के उतार चढ़ाव के साथ गाता भी है। उसका नृत्य देखकर सब लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। केवल कुमार को कभी-कभी हँसी आती है। इसी समय ग्राम का चौधरी तथा अन्य लोग भी इकट्ठे हो जाते हैं। जो उपहार वे लाए हैं वह युवराज के सामने रख दिया जाता है। धीरे धीरे और लोग भी आकर नृत्य में सम्मिलित हो जाते हैं। नृत्य एक विशाल रूप धारण कर लेता है। सिद्धार्थ एक चेचक से भरी हुई कन्या के पास जाकर उसे देखने लगते हैं।)

सिद्धार्थ—ठहरो, ठहरो ! देखो, इस कन्या को क्या हो गया ! इसका संपूर्ण शरीर न जाने कैसा हो गया है !

चौधरी—(रपटकर कन्या को सिद्धार्थ के पास से हटा देता है) जा, दूर हो। युवराज, इसके माता निकली है—माता !

सिद्धार्थ—माता क्या ?

देवदत्त—यह एक प्रकार का रोग है कुमार !

सिद्धार्थ—रोग है तो क्या यह मुझे भी हो सकता है ?

सब—आपको क्यों हो। ईश्वर न करे।

एक—सबको हो सकता है।

सिद्धार्थ—देखो, वह कहता है, सबको हो सकता है। यह नाच बन्द

करो। मैं नहीं सुनना चाहता। (चुपचाप सोचते हुए बैठ जाते हैं। इतने में महाराज शुद्धोदन तथा कुछ लोग आ जाते हैं। सिद्धार्थ उठकर उनका अभिवादन करते हैं।)

शुद्धोदन—(पुत्र को सिर से सूँघकर) आज की मृगया अच्छी रही पुत्र !

सिद्धार्थ—हाँ पिताजी ! हमने आज बहुत से पशु मारे हैं—व्याघ्र रीछ, हरिण। किन्तु...।

मंत्री—महाराज, युवराज पूरे क्षत्रिय हैं।

साधुक—मनुष्य न तो क्षत्रिय है न ब्राह्मण। यह तो व्यर्थ की कल्पना है।

शुद्धोदन—किन्तु क्या ?

सिद्धार्थ—किन्तु अब मैं मृगया कभी न करूँगा।

शुद्धोदन—क्यों ?

सिद्धार्थ—इन पशुओं में और हममें क्या भेद है ? हम और ये एक से ही तो हैं !

मंत्री—यह तो क्षत्रिय का धर्म है युवराज। 'जीवो जीवस्य जीवनम्'।

सिद्धार्थ—व्यर्थ की हत्या किसी का भी धर्म हो सकता है यह मेरी समझ में नहीं आता। देखिए, देवदत्त ने एक हरिणी को मारा, उसके पेट से एक शावक निकला है। क्या यह हत्या नहीं है ? (उस बच्चे को देखकर) कितना निरीह पशु है !

शुद्धोदन—तुमने इन लोगों का नाच देखा युवराज ! बहुत अच्छा नाचते हैं।

सिद्धार्थ—(चुप रहते हैं थोड़ी देर बाद) जी। यह कैसी विचित्र बात है। इनमें एक गूँगा है जो बोल नहीं सकता। एक कन्या है

जिसके शरीर में न जाने क्या हो गया है। क्या मैं भी ऐसा ही हो जाऊँगा पिताजी !

मंत्री—शिव शिव कहो राजकुमार ! आप ऐसे क्यों होने लगे ?

सिद्धार्थ—नहीं मंत्रीजी, मैं ऐसा क्यों नहीं हो सकता। मैं भी ऐसा ही हो सकता हूँ। एक व्यक्ति कह रहा था, सब ऐसे हो सकते हैं।

शुद्धोदन—नहीं पुत्र, तुम ऐसे नहीं हो सकते। (चौधरी से) किसने कहा था ?

चौधरी—(एक दूसरे को देखकर) किसने कहा था ? इसने—इसने। (पकड़कर उसे मारने लगता है।)

सिद्धार्थ—नहीं नहीं, मारो मत। इसने सत्य कहा था। मैं भी ऐसा हो सकता हूँ। सब ऐसे हो सकते हैं। संसार न जाने कैसा है ? संसार में अंधे, काने, लूले, लँगड़े सभी हैं। मैं उन सब-को देखना चाहता हूँ। वे ऐसे क्यों हो गए ! (ध्यानस्थ हो जाते हैं)

मंत्री—यह साधारण व्यक्ति नहीं हैं महाराज ?

शुद्धोदन—मुझे डर लगता है मंत्रीजी। चलो, गौतम चलो। (उदास टहलने लगते हैं)

सिद्धार्थ—न जाने मुझे क्या हो रहा है। जीवन, रोग, मृत्यु...।

दूसरा दृश्य

समय—१० बजे प्रातःकाल

[कुमार सिद्धार्थ अपने प्रासाद के निकट वाटिका में टहल रहे हैं। वाटिका फूलों की सुगन्धि से महक रही है। बेला, चमेली, जुही, मालती, गेंदा, सूरजमुखी के पौधे ठीक ढंग से लगे हुए हैं। बीच में अनार, नीबू, अमरूद आदि के वृक्ष भी हैं। उद्यान छोटा होते हुए भी बहुत सुहावना है। उद्यान के बीच में एक संगमरमर का फव्वारा है, जिसमें चारों ओर अप्सराएँ बनी हैं। उनके सिर से पानी की धार निकलकर चारों ओर बिखर रही है। फव्वारे के चारों ओर संगमरमर की कुर्सियाँ बनी हुई हैं। श्वेत रंग के प्रासाद पर पड़नेवाली सूर्य की किरणों की प्रतिच्छाया से फव्वारे के जल की लहरों पर एक नवीन आभा दिखाई देती है। मानों वाटिका में सब ओर श्वेतिमा छा गई हो। साथ में सुकेशी नाम की परिचारिका—वह भी उसी अवस्था की है। सुकेशी चंचल किन्तु शोभनीय मुखाकृति की लड़की है। नितम्ब तक लटकती केशराशि, जिसमें फूल गुँथे हैं। स्तनों का भाग कौशेय पट्ट से बँधा हुआ। बाहुओं में रत्न-जटित अंगद, हाथों में स्वर्ण-कंकण, अँगुलियों में मुद्राएँ। सुकेशी राजकुमार के पीछे और कभी आगे हो जाती है! कभी-कभी किसी पुष्प की ओर संकेत करती है। कभी कोई पुष्प तोड़कर कुमार को भेंट करने लगती है। चाहती है बोलकर हृदय की सब चंचलता, सौन्दर्य और आनन्द को उँडेल दे। पर कुमार की भावमुद्रा से आतंकित उसका सब शरीर सिमट रहा है। इतने पर भी उसकी चंचलता कम नहीं होती। चिड़िया की तरह फुदक रही है। कुमार कभी आकाश की ओर देखते हैं, कभी फूलों की सुरभि पाने के लिये ठिठक उठते हैं। कभी कभी फूल तोड़कर उसे देखते हैं मानों उसके भीतर का कोई रहस्य पढ़ रहे हों! एकाएक ठहरकर...।]

सिद्धार्थ—(ध्यान से देखकर) सुकेशी, क्या तुम बता सकती हो, इन पुष्पों में परस्पर अन्तर क्यों है ?

सुकेशी—(एकदम पीछे घूमकर मुस्कराती हुई) भला मैं क्या जानूँ कुमार ? हाँ, इतना जानती हूँ, इनका यह अन्तर स्वाभाविक है। पर पुष्प तो प्रकृति का चरम विकास है।

सिद्धार्थ—मैं रह-रहकर सोचता हूँ, बीज में इतना भेद क्यों है ? क्या हम सभी इसी तरह एक प्रकृति के उद्‌गार नहीं हैं ?

सुकेशी—(थिरकती हुई फिर पीछे घूमकर) प्रकृति मनुष्य के आनन्द का अन्तर्द्वार है। इसके द्वारा हम अपनी चेतना में एक नवीनता और प्राणों की स्फूर्ति पाते हैं।

सिद्धार्थ—(ठहरकर) तो यही सुख है जो हम जीवन में पाते हैं वस्तुतः सुख तो आत्मा की विभूति है न ?

सुकेशी—युवराज, मेरे जीवन में एक ही विचार उठता है। क्यों न मैं भी फूल की तरह खिलकर सृष्टि को सुख से विभोर कर दूँ, आकाश की उदग्र तारकमालाओं की तरह विश्व के आँगन में फैल जाऊँ। क्यों न सुधांशु की किरणों के समान मनुष्य के अन्तस्तल को शीतलता के सुख से आप्यायित कर दूँ। (कुमार की ओर देखकर) तुम चुप हो। बोलते क्यों नहीं ? बोलो, निशानाथ की तरह आकाश में प्रति रात उठनेवाले सुख की भाँति मेरे जीवन का एक एक कण तुम्हारी सेवा में बीत जाय यही मेरी चरम आशा है राजकुमार !

सिद्धार्थ—पर मैं देखता हूँ हमारी तरह सब सुखी नहीं हैं। अभी उस दिन मैंने एक बैल को देखा, उसका शरीर शिथिल था, उसके अंग में झुर्रियाँ पड़ गई थीं। उसकी देहयष्टि भूकम्प

की तरह डगमगा रही थी। वह सूखकर कंकाल मात्र रह गया था। ऐसा क्यों होता है सुकेशी, मैं यही सोचा करता हूँ।

सुकेशी—यह व्यर्थ की बातें हैं कुमार, संसार में सभी कुछ अपने ढंग से होता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। (सोचकर) जाने दीजिए। क्या आपको वह गीत सुनाऊँ जो उस दिन मैंने लिखा था?

सिद्धार्थ—(सुकेशी की ओर ध्यान से देखकर) गीत, गीत तो मानसिक वेगों का लय और ताल से सधा हुआ अबाध उद्गार है। उसमें तो वही रहता है जो वक्ता में उस समय के हृदय की स्फूर्ति होती है। क्या तुम मेरी चिन्ता के प्रतिफल-स्वरूप गीत सुना सकोगी? मुझे तो तुम वह गीत सुनाओ जो उस दिन गाया था।

सुकेशी—(हाथ जोड़कर) अनुगृहीत हूँ, सुनिये—

कौन हँस शृंगार करता?

क्षितिज में रवि स्वप्न साधे, नील आँचल काल बाँधे,
हर हृदय में भर प्रलयमद, बहाता शोणित महानद,
घूँट में पी सभी जीवन-स्वर्ग मिस संहार भरता;
कौन हँस शृंगार करता?

कौन बजते रागिनी के, अमर गान विहागिनी के,
तीव्र कोमल तार खींचे दौड़ जाता आँख मींचे,
और टूटी मीड़, बिखरे स्वप्न में अंगार धरता;
कौन हँस शृंगार करता?

(गाना बन्द हो जाने पर सुकेशी देखती है, कुमार पहले से भी अधिक

उन्मन एवं उदास हो उठे हैं। एकदम घबराकर पास जाती हुई) क्या हुआ कुमार, क्या सोच रहे हैं ?

सिद्धार्थ—वही, जो सोचने के लिये मैं पैदा हुआ हूँ ?

सुकेशी—(घबराकर) यह आप क्या कह रहे हैं ?

सिद्धार्थ—(उसी ध्यान में) सोचता हूँ, जीवन क्या इतना क्षणस्थायी है, जैसे मेरे स्वप्न संचित होकर इस गीत में समा गये हैं।

सुकेशी—(उसी मुद्रा से) पर मैंने तो यह आपकी प्रसन्नता के लिये गाया था।

सिद्धार्थ—हाँ, ठीक है। इस गीत ने मुझे जीवन की ओर अधिक वेग से उन्मुख किया सुकेशी !

सुकेशी—(पीठ फेरकर घबराती हुई) हाय, क्या करूँ ! मैं क्या जानती थी कि इस गीत से कुमार आनंदित न होकर व्यग्र हो उठेंगे। (एकदम पैरों पर गिरकर) मुझे इस गीत को सुनाकर बहुत दुख हुआ है।

सिद्धार्थ—(उठाते हुए) नहीं, चिन्ता मत करो सुकेशी! मैं यह सोचता हूँ कि जीवन के पीछे ऐसी कौन शक्ति है जो मानव के प्राणों को चूसे जा रही है। कदाचित् जीवन का यह विलास स्थायी रह सके।

सुकेशी—जीवन का विलास स्थायी है कुमार ! प्राणों की सुख भरी हिलोर उठते उठते नवजीवन के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाती है तभी हमारा संसार सोने का हो जाता है। तुम उठो और एक बार देखो इन फूलों में कितना मद है, कितनी सुगंधि भरी है इनकी पंखुड़ियों में। इनकी एक एक लहराती लता में ? यही जीवन है, यही स्वर्ग है कुमार ! (बादल की

एक घटा आकाश में छा जाती है, गड़गड़ाहट होने लगती है, मोर नाचने लगते हैं, सब ओर प्रकृति का उल्लास छा जाता है। दोनों मूक, मुग्ध से उधर देखते रहते हैं।)

सिद्धार्थ—यह भी जीवन का एक रूप है।

सुकेशी—आनन्दमय, उल्लासमय !

सिद्धार्थ—(ध्यानस्थ होते हुए एकदम जागकर) हाँ ! पिता कहते हैं, संसार सुख से पूर्ण है ! गुरु कहते हैं, संसार कर्तव्य भूमि है। मौसी कहती है, तुम राज्य करने के लिये पैदा हुए हो। पर मैं क्या हूँ, यह कोई नहीं बताता ! तुम बता सकती हो सुकेशी, मैं क्या हूँ—किसलिए हूँ ?

सुकेशी—मैं क्या जानूँ कुमार ! वह देखो आकाश में उड़ती हुई हंस पंक्ति कैसी सुन्दर दिखाई देती है ! मानो बादलों ने बड़े बड़े मोतियों की माला पहन ली हो।

सिद्धार्थ—नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा मालूम होता है, मानों नीले बादल के क्षतविक्षत शरीर से पीब की बूँदें निकलकर मालाकार बन गई हों।

सुकेशी—नहीं कुमार, यह सब सोचने का तुम्हें अधिकार नहीं है। तुम राजकुमार हो।

सिद्धार्थ—पर राजकुमार होने से क्या कोई ऐसा सोचने का मेरा अधिकार छीन लेगा ! मुझे तो इस संसार में दुख ही दुख दिखाई देता है।

सुकेशी—कैसे ?

सिद्धार्थ—अभी उस दिन मैं मृगया के लिये निकला तो घूमते हुए मैंने एक कन्या को देखा। एक गूँगे पुरुष को देखा। मृगया में

हरिणी के पेट से बच्चा निकला। मैंने अपने साथियों से पूछा, किन्तु वे उसका कोई उत्तर न दे सके।

सुकेशी—वह तुम्हारा भ्रम है कुमार। वह सब कुछ भी न था।

सिद्धार्थ—वह सब कुछ भी नहीं था। वही तो था जिसने मुझे चिन्तित कर दिया है।

सुकेशी—आप उन बातों को क्यों सोचा करते हैं?

सिद्धार्थ—न जाने क्यों! पर मुझे इच्छा होती है कि यह सब बातें मैं जान लूँ।

सुकेशी—इन बातों को जानने से कोई लाभ नहीं है। आपको ज्ञात है, मैं आपको प्रसन्न करने, आपका मनोविनोद करने के लिये रक्खी गई हूँ। पर आप तो जैसे...।

सिद्धार्थ—मैं जानता तो कुछ नहीं हूँ। पर इच्छा होती है, प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण करके संसार की एक एक चीज़ को जान लूँ। समझ में नहीं आता, यह सब कैसा खेल है? अच्छा सुकेशी, तुम बता सकती हो, इन बादलों के पीछे क्या है?

सुकेशी—आपको एक और गीत सुनाऊँ!

सिद्धार्थ—नहीं, गीत मैं नहीं सुनूँगा।

सुकेशी—कहिये तो वह नया नाच दिखाऊँ, जो उस दिन माधवी ने महाराज को दिखाया था।

सिद्धार्थ—नृत्य मुझे तनिक भी आकृष्ट नहीं कर पाता। (सामने ध्यान से देखकर) ठहरो, देखो, सामने यह क्या गिरा। (दोनों उधर ही दौड़ जाते हैं और देखते हैं कि एक हंस तीर के साथ घायल हो कर छटपटा रहा है। कुमार उसे देखकर गोद में उठा लेते हैं और धीरे धीरे उसके शरीर से बाण निकालते हैं। बाण निकालने के बाद

उसे फव्वारे के पास ले जाकर उसकी चोंच में पानी डालते हैं। और उसके शरीर पर हाथ फेरते हैं। सुकेशी बेचैन होकर यह सब देखती रहती है।)

सुकेशी—(कुमार को तन्मय और उदास देखकर) कुमार इतने उदास न हो। यह तो साधारण पक्षी है। ऐसे हंस और पचासों मिल सकते हैं।

सिद्धार्थ—तुम नहीं समझतीं सुकेशी, न जाने किसने इसे बाण मार कर घायल कर दिया। (हंस की ओर देखकर) कितना मूक पक्षी है यह ! (आँखों में आँसू छलछला आते हैं)

सुकेशी—पक्षी तो सभी मूक होते हैं कुमार !

सिद्धार्थ—क्या ही अच्छा होता कि मैं इसकी पीड़ा को जान पाता। यदि प्राण देकर भी इसकी रक्षा कर सकूँ तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। (उसके शरीर पर हाथ फेरते हैं। पक्षी जागता सा दिखाई देता है।)

सुकेशी—युवराज यह क्या कह रहे हैं ? शिव, शिव, कहाँ आप और कहाँ यह साधारण पक्षी। (इतने में एक नवयुवक बगिया में प्रवेश करता है)

देवदत्त—हैं हैं युवराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ! इसे छोड़ दीजिये। यह तो मेरी मृगया है, इसे तो मैंने मारा है। सच-मुच सुकेशी आज का मेरा लक्ष्यभेद अटूट सिद्ध हुआ लाइये कुमार, इसे मुझे दीजिये। (लेने को हाथ बढ़ाता है)

सिद्धार्थ—(दृढ़ता से) नहीं, यह नहीं हो सकता। तुमने इस निरपराध की हत्या की है देवदत्त !

देवदत्त—तो इसमें बुराई क्या हुई ? यह तो बहुत साधारण बात है।

सुकेशी—क्षत्रियों का यह तो काम ही है कुमार !

देवदत्त—और यह कोई नई बात भी तो नहीं है ?

सुकेशी—ऐसा तो सदा से होता चला आया है।

देवदत्त—यह किसी प्रकार का अपराध होगा ऐसी तो मैं कल्पना नहीं कर सकता। लाइये, लाइये न ! यह मेरा है, मैंने इसे मारा है। सबसे बड़ी बात तो यह है कुमार, कि आज यह मेरी सबसे बड़ी विजय है।

सिद्धार्थ—(आश्चर्य से) यह विजय है ?

देवदत्त—आश्चर्य हो रहा है ?

सिद्धार्थ—दूसरे की मृत्यु को तुम विजय कहते हो। नहीं, मैं यह हंस तुम्हें नहीं दे सकता।

दोनों—(आश्चर्य और घबराहट के साथ) क्यों ?

सिद्धार्थ—मारने वाले से जिलाने वाले का अधिकार बड़ा होता है। इसलिये, देखो यह पक्षी कैसे दया भरी दृष्टि से मेरी ओर देख रहा है ! नहीं भाई, यह पक्षी मेरा है। मैं इसे तुम्हें नहीं दे सकता। नहीं दे सकता।

देवदत्त—परन्तु शस्त्रविद्या के अनुसार तो यह पक्षी मेरा है इस पर मेरा अधिकार है। आज यह मेरा आहार होगा।

सिद्धार्थ—आहार ! यह तुम्हारा आहार होगा, (तड़प कर) लज्जा नहीं आती कहते !

देवदत्त—(उसी दृढ़ता से) लज्जा की क्या बात है ! तुम राजा के पुत्र हो इसीलिये आज ऐसा कहते हो ! (क्रोध से काँपने लगता है)

सिद्धार्थ—(हंस को जमीन पर रख कर और देवदत्त के पास जाकर) यह

तुम्हारा भ्रम है। मैं मनुष्य की दृष्टि से प्रार्थना करता हूँ कि इस पक्षी को तुम छोड़ दो।

देवदत्त—तुम्हारी यह बात किसी तरह मेरी समझ में नहीं आती कि मैं इस पक्षी को क्यों छोड़ दूँ।

सिद्धार्थ—इसलिये कि यह हिंसा है।

देवदत्त—परन्तु यह कोई नई बात तो है नहीं। क्षत्रियों का तो यह आहार है।

सिद्धार्थ—(ध्यान से सोचते हुए) यह आहार है? (स्वगत) मैं भी तो इसीका आहार करता हूँ। (प्रकट) नहीं, नहीं अब यह नहीं होगा। मांस का आहार! नहीं, यह नहीं हो सकता। नहीं भाई देवदत्त (चिन्ता में घूमते हुए) देखता हूँ, नीचे से ऊपर तक, भीतर से बाहर तक सभी बुरा है। क्या करूँ? नहीं, यह नहीं हो सकता।

देवदत्त—तो जो चाहो करो, मेरा पक्षी मुझे दे दो।

(शुद्धोदन और गौतमी का प्रवेश)

शुद्धोदन—क्या है कुमार?

देवदत्त—(सिर झुकाकर राजा-रानी को प्रणाम करता हुआ) महाराज की जय हो, माता गौतमी की जय हो। न्याय की भिक्षा...... (एक तरफ को खड़ा हो जाता है)।

सुकेशी—महाराज की जय हो, कुमार ने आर्य देवदत्त के शरविद्ध हंस की रक्षा की है। कुमार के प्रयत्न से हंस फिर जी उठा है। कुमार उसे देवदत्त को नहीं देना चाहते।

सिद्धार्थ—महाराज, मैं न्याय चाहता हूँ। देवदत्त ने इस पक्षी को मारा और मैंने उसे जीवित किया। अब इस पर किसका अधिकार है?

देवदत्त—आर्यशास्त्र के अनुसार मारनेवाले का।

सिद्धार्थ—किन्तु मेरे मतानुसार तो मेरा ही अधिकार है। मैंने इसे फिर जीवित किया।

गौतमी—(कुमार के पास जाकर उसकी पीठ पर हाथ फेरती हुई) मैं तुम्हें और हंस मँगवा दूँगी बेटा, इस हंस को देवदत्त को दे दो।

शुद्धोदन—मैं आज ही हंसों की कई जोड़ियाँ मँगवा देने को कर्मचारी भेजूँगा।

सुकेशी—(झुककर) प्रश्न यह नहीं है महाराज! कुमार इस विक्षत पक्षी को देवदत्त को केवल हिंसा के कारण देना नहीं चाहते।

सिद्धार्थ—पक्षी में भी तो वैसे ही प्राण हैं जैसे मुझमें। दुखी के प्रति दया दिखाना मेरा कर्तव्य है, मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। यदि देवदत्त इसकी रक्षा का वचन दें तो उन्हें यह पक्षी देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

सब—(आश्चर्य से) पक्षी के प्रति दया?

देवदत्त—नई बात है।

शुद्धोदन—बात बुरी तो नहीं है।

सुकेशी—सर्वथा नई बात है महाराज!

गौतमी—कुछ समझ में नहीं आता।

शुद्धोदन—देवदत्त, मैं चाहता हूँ—न्याय होते हुए भी तुम यह पक्षी कुमार को दे दो। कुमार की इच्छा के सामने न्याय, अन्याय कुछ भी मुझे नहीं सूझ पाता। (गद्गद हो उठता है)

गौतमी—हाँ बेटा!

सुकेशी—हाँ, आर्य देवदत्त।

सिद्धार्थ—मैं पक्षी पर कोई अधिकार नहीं रखना चाहता। केवल इतना चाहता हूँ........।

शुद्धोदन—हाँ कहो बेटा !

देवदत्त—मैं कुछ कुछ समझ रहा हूँ।

सिद्धार्थ—(अनायास ही) सब जीवों पर दया दिखाना ही मनुष्य का कर्तव्य है। वही मैं तुमसे चाहता हूँ देवदत्त। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। यह लो (हंस को देवदत्त की गोद में रख कर चले जाते हैं)।

देवदत्त—(आश्चर्य से) सब जीवों पर दया दिखाना ही मनुष्य का कर्तव्य है। बिलकुल नई बात है।

सुकेशी—सचमुच ऐसा तो कभी नहीं सुना। गये, कुमार गये, मैं भी जाती हूँ। (जाती है)

गौतमी—मेरा बेटा कितना उदार है महाराज !

शुद्धोदन—(भयभीत होकर) मुझे डर लग रहा है गौतमी, कहीं इस महत्ता और उदारता में मेरी आँखों का तारा ओझल न हो जाय। कोई उपाय करो देवि ! मुझे अँधेरा दिखाई पड़ रहा है। (बैठ जाता है)

देवदत्त—महाराज सावधान हों।

गौतमी—उठिये प्रभो, कुमार आपकी अवहेलना नहीं कर सकते।

शुद्धोदन—यदि तुम लोग मेरी आँखों से देख पाते, मेरे विश्वास से समझ पाते। मैं नित्य स्वप्न में देखता हूँ, जैसे कुमार को कोई मेरे पास से छीनकर लिये जा रहा हो। जैसे वह मेरे पास रहने के लिये नहीं आया। तब जगकर सीधा उसके पर्यंक के पास दौड़कर आता हूँ और उसके कक्ष में आसन पर

बैठा घण्टों उस अभिनव मधुर मुख की ओर निहारता रहता हूँ। मृगया के दिन से ही कुमार का रूप मैं देख रहा हूँ।

गौतमी—मेरे पेट से न उत्पन्न होने पर भी जैसे यह मेरी आत्मा हो।

शुद्धोदन—प्रजाजन, बन्धुजन, सभी कुमार को प्राण से भी अधिक चाहते हैं।

देवदत्त—महाराज, वह हंस राजकुमार को दे दीजिए।

शुद्धोदन—न जाने क्या होगा, न जाने कैसा होगा! क्या इसका कोई भी उपाय नहीं है गौतमी?

गौतमी—किसका महाराज?

शुद्धोदन—मैं देखता हूँ सिद्धार्थ मेरे हाथ से जा रहा है। जो कोई भी कार्य मैं उसके मनोविनोद के लिए करता हूँ उसमें कोई न कोई विशृंखला आ पड़ती है।

गौतमी—इसका एक उपाय है महाराज!

शुद्धोदन—क्या?

गौतमी—सिद्धार्थ का विवाह? स्त्री संसार में सबसे मोहक वस्तु है।

शुद्धोदन—मुझे संदेह है। कदाचित् उससे भी कुमार उपरत न हो जायँ। (प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—जय हो महाराज की, महात्मा दर्शन किया चाहते हैं।

शुद्धोदन—हाँ, भेज दे।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (जाता है)

(महामात्य का प्रवेश)

महामात्य—जय हो महाराज की।

शुद्धोदन—आइए मंत्रिवर, कुमार के मनोविनोद के लिए क्या कुछ सोचा?

महामात्य—प्रभो, कुमार के सामने नाचने, गाने के लिये काशी से नर्तकियों का प्रबन्ध हो गया है। विश्वास है अब उनका मन संसार की ओर से विरत न होगा।

शुद्धोदन—गौतमी का विचार है कुमार का विवाह कर दिया जाय।

महामात्य—मैं भी यही कहना चाहता था देव !

(सुकेशी का प्रवेश)

सुकेशी—(घबराकर) रक्षा कीजिये देव !

शुद्धोदन—क्या हुआ सुकेशी ?

सुकेशी—कुमार सिद्धार्थ जब से यहाँ से गये हैं, बहुत व्यग्र और उदास हैं।

शुद्धोदन—(बेचैन होकर) न जाने भाग्य में क्या लिखा है महामात्य ! चलो और देखो महामात्य, आज से ऐसी व्यवस्था कर दो जिससे कुमार के सामने कोई बूढ़ा, अंधा, लँगड़ा, काना, रोगी तथा मृत न आने पावे।

महामात्य—जो आज्ञा।

(चले जाते हैं)

तीसरा दृश्य

समय दोपहर

[महाराज शुद्धोदन के प्रासाद का बाहरी भाग। सब कुछ दरबार के ढंग से सजा है। शुद्धोदन का आसन खाली है और उसके दाएँ-बाएँ मंत्री, महामंत्री, सामन्त तथा अन्य राज-कर्मचारी बैठे हैं। इतने में चोबदार महाराज के आने की सूचना देता है और दो परिचारिकों एवं कुछ अंगरक्षकों के

साथ शुद्धोदन प्रवेश करते हैं। सब लोग खड़े होकर अभिवादन करते हैं और यथास्थान बैठ जाते हैं।]

शुद्धोदन—(मंत्री की ओर देखकर) मंत्रिन्, कुमार के मनोविनोद के लिये जिस नर्तकी को काशी से बुलाया गया है उसका क्या हुआ ?

मंत्री—महाराज, वह आगई है। अभी उपस्थित हुआ चाहती है।

शुद्धोदन—परन्तु देखो, (धीरे से) सिद्धार्थ को यह सब ज्ञात न हो। हमें तो केवल उनके विचारों में परिवर्तन करना है।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) ऐसा ही होगा।

शुद्धोदन—कुमार अभी नहीं आये।

एक परिचारक—आते ही होंगे। आपके पधारने की सूचना उन्हें दी जा चुकी है।

शुद्धोदन—मंत्री, क्या तुम्हारा विश्वास है कि कुमार का हृदय परिवर्तित किया जा सकेगा ?

मंत्री—मुझे विश्वास है महाराज! वे कथाएँ अभी बहुत प्राचीन नहीं हो गई हैं जब ऋषि मुनियों की तपस्याओं को देवराज ने इन्हीं के द्वारा भंग कर दिया है।

महामंत्री—बालकों का हृदय बड़ा कोमल होता है। उन पर जिस प्रकार के विचारों का प्रभाव पड़ता है, वे उसी तरह के हो जाते हैं।

मंत्री—आपका कहना यथार्थ है।

महामंत्री—विचारों से ही मनुष्य का निर्माण होता है।

शुद्धोदन—पर देखता हूँ, कुमार के सम्बन्ध में यह बात पूर्ण रूप से लागू नहीं होती।

एक कर्मचारी—उनकी आकृति देखने से ज्ञात होता है वे साधारण पुरुष नहीं हैं।

महामंत्री—उनके भीतर कोई अलौकिक शक्ति देख पड़ती है।

सभासद्—प्रत्येक बालक ईश्वर का अंश लेकर उत्पन्न होता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु संसार के वातावरण एवं माया मोह में उसका सब प्राचीन रूप तिरोहित हो जाता है। और समय पाकर वह पूरा संसारी बन जाता है।

महामंत्री—फिर भी संगीत वातावरण का जीवन के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। वह देखिये कुमार आ रहे हैं।

(एक ओर से कुमार सिद्धार्थ का प्रवेश । और उधर सामने के उद्यान की सीढ़ियों से छम छम की ध्वनि सुनाई देती है और ताल के साथ नर्तकी नीचे उतरती है। कुमार चुपचाप आसन पर बैठ जाते हैं। कुछ ध्यानस्थ से और सब तरफ देखकर वे भी निर्लिप्त भाव से उसी नर्तकी की पदगति को देखने लगते हैं । उस नर्तकी के घुँघुरुओं से उठने वाली पदगति में इतनी तन्मयता बढ़ जाती है कि उस ध्वनि के अतिरिक्त सब ओर शान्ति छा जाती है। अन्त में नर्तकी धीरे धीरे आकर नाचने लगती है। बहुत देर नाचने के बाद एकाएक गाती है)

हास भीने, स्मृति, सलज दृग प्राण में पुलकन सँजोये।
ढूँढते किसको न जाने स्वप्न आलिंगन भिगोये;

वारुणी में गान तिरते—
हँस चले अनुराग वासित;
दृगों ने बीती कहानी—
की कहानी कही अलसित;

प्रिय अधर की बिजलियों ने छू व्यथा के श्वास धोये ;
हास भीने, स्मृति, सलज दृग प्राण प्रिय पुलकन सँजोये ।

कौन तुम चितवन नशीली
में उलझ बन गीत जाते ?
और स्वप्नों के कुहर से
झाँकते फिर भी न आते ?

हास भीने, स्मृति सलज दृग स्वप्न आलिंगन भिगोये ।
यह मिली क्यों मधुर सिहरन प्यास साँसों में पिरोये ।

मैं मधुरतम स्वप्न सुख पी—
भूल अपना मन चुकी हूँ ।
डूब छवि की सरित में सब—
भूल अपनापन चुकी हूँ ।

कौन तुम गुपचुप हृदय में आज बन अनजान सोये ?
हास भीने, स्मृति सलज दृग प्राण में पुलकन सँजोये ।

(गायन समाप्त हो जाता है । उसके बाद भी सभा में उसके वातावरण का प्रभाव रहता है । और एकाएक सारी सभा आनन्दातिरेक से अभिभूत हो उठती है और वाह वाह की ध्वनि से सम्पूर्ण वायुमंडल गूंज उठता है ।)

शुद्धोदन—कला सचमुच जीवन के विकास में सहायक शक्ति है ।

राजकवि—परन्तु काव्य-सृष्टि इस कला से ऊँची वस्तु है महाराज ! नृत्य मूक भावों का अभिनय है, गायन स्वर सौन्दर्य है किन्तु काव्य में तो दोनों प्रकार की अभिव्यक्ति होती है। उसमें भाव एवं स्वरों के आरोह अवरोह के साथ जीवन की उन गतियों का भी चित्रण होता है जो मनुष्य से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सम्बन्ध रखती हैं ।

शुद्धोदन—इतना होते हुए भी प्रत्येक कला का अपना अलग अस्तित्व है, भिन्न रूप है कविवर !

राजकवि—महाराज ? पर इनका परस्पर सम्बन्ध भी है। नृत्य कविता की वाह्यानुकृति है, संगीत कविता की स्वर-साधना है परन्तु कविता इन दोनों का आवरण पहनकर और भी उज्ज्वल रस प्रदान करती है। इसीलिये उसे 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' कहा गया है । रस ही जीवन है, और रस ही काव्य।

सिद्धार्थ—महाराज, कविता एवं संगीत में यदि व्यवहार पक्ष पुष्ट नहीं है तो वह और चाहे जो कुछ हो, कला नहीं है। कला जीवन की अभिव्यक्ति का साधन है साध्य नहीं । यह विवेक तो कला में होना ही चाहिये।

महामंत्री—कुमार बहुत गहरी बात कह रहे हैं महाराज !

राजक—विकला को जीवन का अंग-विशेष मानना कला की हत्या है। कला सृष्टि का साध्य है, समाज का साध्य है। कला इन दोनों के विकास का लक्ष्य होना चाहिये; तभी कला कला है। आज तक हम लोग ऐसा ही मानते आये हैं।

सिद्धार्थ—किन्तु जैसा हम मानते आये हैं वैसा ही बराबर मानते जाना क्या विवेक है सुमुख जी ? रोग से पीड़ित, वृद्धावस्था से जर्जर, दुर्भिक्ष अथवा भूख से विगलित को आपकी यह कला कौन सा सुख देती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।

सुमुख—उन्नत कला उन लोगों के लिए नहीं है जो भूखे हैं, जर्जर हैं, वृद्धता से पीड़ित हैं। प्रत्येक रोग की एक ही औषध नहीं हो सकती युवराज !

सिद्धार्थ—तो आपकी कला जीवन के कौन से अंग को पूरा करती है, क्या मैं जान सकता हूँ ?

सुमुख—(आश्चर्य से) कौन से अंग को ! वह तो जीवन के विकास में सहायक है ।

सिद्धार्थ—किस तरह ?

शुद्धोदन—यह सब क्या परम्परा से ऐसा होता नहीं आ रहा है ? तुम राजकुमार हो । तुम्हें ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिये बेटा ! राजा और राजकुमार को तो अपनी मर्यादा के लिए इस कला की रक्षा करनी ही पड़ती है । नहीं तो राजा और प्रजा में भेद ही क्या रहेगा ?

सुमुख—राज्यश्री का यह अंग है युवराज !

महामंत्री—राजा ईश्वर का अंश होता है !

सिद्धार्थ—ये सब बातें मेरी समझ में नहीं आतीं पिताजी ! प्रत्येक वस्तु का उपयोग हमारे जीवन से निश्चित होता है । संसार में जो कुछ है वह जीवन के लिए है, मनुष्य के विकास के लिए है, मनुष्य के दुख को घटाकर उसे सुखी बनाने के लिए है ।

सुमुख—परन्तु कविता का नहीं, वह तो मनोरंजन है । क्या मनोरंजन जीवन के विकास में सहायता नहीं देता ?

सिद्धार्थ—मनोरंजन अपने रूप में शुद्ध नहीं है । वह किसी अंश में सुख में विकृत सुख की वृद्धि कर सकता है वास्तविक सुख उत्पन्न नहीं कर सकता । बाल्मीकि के मुख से जो सबसे पहिली कविता निकली, वह मनोरंजन के लिए नहीं थी । वह तो एक प्राणी के दुःख में सहानुभूति का उद्गार था । वही

सहानुभूति प्राणीमात्र को चाहिये। यदि आपकी कला—नृत्य, संगीत, कविता—हमें वह सहानुभूति दे सके तो उसमें कला की सफलता माननी चाहिये।

शुद्धोदन—तुम तो राजकुमार हो बेटा! तुम्हें ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिये।

सिद्धार्थ—सब मुझसे यही कहते हैं कि मैं राजकुमार हूँ; पर राजकुमार होने से क्या मैं मनुष्य नहीं हूँ? मुझमें साधारण जगत के दुख सुख नहीं हैं? क्या साधारण के दुख सुख को देखकर मुझे राजकुमार होने के नाते उन्हें भुला देना चाहिये? मैं कैसे कहूँ पिताजी, कि मुझे ये नृत्य, संगीत बिलकुल अच्छे नहीं लगते। हे राजसभा के विद्वानो, क्या तुम मुझे ऐसा कोई उपाय बता सकते हो जिसके द्वारा मैं संसार में मनुष्यमात्र को दुख से रहित देख सकूँ? यदि मैं राजकुमार हूँ, तो भी मेरा यह कर्तव्य है कि अपनी प्रजा को सदा सुखी देखूँ।

(सारी सभा सिद्धार्थ के कथन को सुन कर 'धन्य धन्य' कह उठती है। केवल शुद्धोदन के मुख पर उदासी छा जाती है। इतने में पाँच ब्राह्मण सभा में प्रवेश करते हैं। ब्राह्मणों के सिर घुटे हुए, आधा सिर चोटी से घिरा, त्रिपुण्ड् लगाये, गले में एक सफेद अँगौछा तथा मोटी रुद्राक्ष की मालाएँ, बाहु, पीठ और पेट छाती पर भस्म लगी हुई; नीचे, धोतियाँ खड़ाऊँ पहने हुए हैं। राजा ब्राह्मणों को आया जान सिंहासन से उठ कर खड़ा हो जाता है तथा ब्राह्मणों से बैठने के लिए आग्रह करता है परन्तु ब्राह्मण वैसे खड़े रह कर कहने लगते हैं।)

पहला ब्राह्मण—हम रात दिन एक करके केवल तप में निमग्न रहने वाले ब्राह्मण, हे राजन्, तेरी सभा में आये हैं।

दूसरा ब्राह्मण—तुझे मालूम है हमने राज-पाट सब छोड़ दिया है।

शुद्धोदन—आज्ञा कीजिये महाराज, सेवक उपस्थित है।

तीसरा ब्राह्मण—परशुराम का रक्त अभी बिलकुल शान्त नहीं हो गया है।

चौथा—यह कहना चाहिए कि प्रत्येक ब्राह्मण परशुराम है। और परशुराम होने से क्या होता है, ब्राह्मण की तो भृकुटि ही संसार का संहार कर सकती है।

पाँचवाँ—हमारे पास मंत्र का बल है।

शुद्धोदन—दास उपस्थित है। आप लोग बैठ जाइये।

पहला ब्राह्मण—हम बैठ नहीं सकते। हमारा अपमान हुआ है। हमारे धर्म का अपमान हुआ है।

महामंत्री—ब्राह्मणवर, आप लोग विराजें। महाराज आपकी बातों को सुनने के लिये तैयार हैं।

मंत्री—बैठ जाइये महाराज! (सब लोग बैठ जाते हैं। केवल एक ब्राह्मण खड़ा रहता है।)

पहला ब्राह्मण—राजन्, हम आपसे न्याय कराने आये हैं। कल महामण्डप में हम लोग यज्ञ कर रहे थे, बलि के लिए छाग भी वहीं बँधा था कि राजकुमार सिद्धार्थ ने हमारा अपमान किया। हमारे धर्म में व्याघात डाल दिया। हमारे यजमान को पटक दिया।

सब—कैसे कैसे ?

दूसरा ब्राह्मण—(खड़े होकर) बलि न होने दी और यज्ञ अधूरा रह गया। (बैठ जाता है।)

तीसरा ब्राह्मण—(खड़े होकर) यजमान ने यज्ञ नहीं किया और वैसे ही यज्ञ छोड़कर चला गया।

चौथा ब्राह्मण—यह ब्राह्मण जाति का अपमान है। धर्म का अपमान है।

शुद्धोदन—सिद्धार्थ क्या आपके यज्ञ में गये थे?

सब ब्राह्मण—नहीं, उनका एक व्यक्ति था।

मंत्री—सिद्धार्थ का व्यक्ति?

सब ब्राह्मण—हाँ सिद्धार्थ का आदमी देवदत्त।

मंत्री—मेरा पुत्र देवदत्त?

दूसरा ब्राह्मण—वह कहता है—यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिये। उसने हमारे यजमान को बहकाया है।

मंत्री—देवदत्त मूर्ख है, अज्ञ है। आप लोग उसको क्षमा कीजिये।

शुद्धोदन—इसमें कुमार का कोई हाथ नहीं है। कुमार निर्दोष हैं महाराज!

सिद्धार्थ—(खड़े होकर) देवदत्त ने क्या किया, यह मुझे नहीं मालूम; किन्तु देवदत्त ने यदि छाग को बलि होने से रोका तो वह मेरी ही प्रेरणा समझी जानी चाहिये महाराज! मैंने ही देवदत्त को यह शिक्षा दी है।

सभा के लोग—यह शिक्षा अनुचित है। धर्म में हस्तक्षेप करने का कुमार को कोई अधिकार नहीं है।

ब्राह्मण—राजा को भी, राजा धर्म की रक्षा के लिए है विनाश के लिये नहीं। यह महा अनुचित हुआ है।

महामंत्री—यज्ञ में दी गई बलि हिंसा नहीं कही जा सकती।

सिद्धार्थ—हिंसा सब जगह हिंसा ही है। चाहे वह यज्ञ में हो अथवा

और कहीं। धर्म हिंसा का उपदेश नहीं देता। धर्म जीवन है मृत्यु नहीं। यह हमारा अज्ञान है, धर्म का विकृत रूप है। ऐसे धर्म को हमें नहीं मानना चाहिये।

सारी सभा—यह घोर पाप है। धर्म के सम्बन्ध में कुमार को कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है। उसे प्रायश्चित्त करना होगा।

सब ब्राह्मण—सिद्धार्थ दोषी है। उसे दण्ड भोगना ही पड़ेगा। धर्म का अपमान असह्य है।

सिद्धार्थ—मैं सब प्रकार का दण्ड भोगने को तैयार हूँ, किन्तु यज्ञ में हिंसा मुझे सह्य नहीं है।

सब ब्राह्मण—स्वीकृति भी पाप है। राजन्, हम आपसे न्याय चाहते हैं। न्याय कीजिए।

मंत्री—इतना होते हुए भी मूलदोषी देवदत्त है सिद्धार्थ नहीं।

सिद्धार्थ—नहीं, यदि यह दोष है तो मैं दोषी हूँ, देवदत्त नहीं।

सभा के कुछ लोग—न्याय कीजिए, न्याय कीजिए। धर्म ऐसा अनादर नहीं सह सकता।

(देवदत्त का प्रवेश)

सब ब्राह्मण—यही है, यही है। धर्म का विध्वंस करनेवाला।

देवदत्त—हिंसाहीन धर्म ही सत्य धर्म है। इस धर्म की रक्षा के लिए मैं सब प्रकार का दण्ड सहने को उद्यत हूँ महाराज!

सिद्धार्थ—देवदत्त ने कोई पाप नहीं किया। इसलिए उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि उसे दण्ड देना है तो मुझे दण्ड दीजिए। मैं भोगने को तैयार हूँ।

सभा में एक आदमी—दोनों दण्डनीय हैं।

दूसरा आदमी—नहीं, देवदत्त को दण्ड देना चाहिये।

तीसरा आदमी—मूल प्रेरक होने के नाते कुमार दोषी हैं।

शुद्धोदन—मेरी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। पर देखता हूँ यज्ञ में हिंसा को रोकना पाप अवश्य है। धर्म में व्यवधान करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। किन्तु देवदत्त के विरोध करने पर भी वह निर्दोष है।

मंत्री—और राजा एवं राजकुमार निष्पाप हैं।

शुद्धोदन—(खड़े होकर) मैं देखता हूँ कि सिद्धार्थ दोषी हैं। और मैं सिद्धार्थ के बदले......(चुप हो जाता है तथा आँख में आँसू छलछला आते हैं फिर बोलते हैं) मैं सिद्धार्थ की जगह ब्राह्मणों का दण्ड सहने को तैयार हूँ। सिद्धार्थ बालक हैं। (बैठ जाते हैं)

महामंत्री—ब्राह्मणो, दोष स्वीकार करना भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। बालक होने के नाते सिद्धार्थ अपराधी नहीं है, इसके अतिरिक्त......। (सिद्धार्थ बार-बार बोलने को खड़े होते हैं पर बोलने का समय न मिलने के कारण बैठ जाते हैं) इसके अतिरिक्त......(इधर-उधर देखकर) हाँ तो मैं कह रहा था इसके अतिरिक्त महाराज ने स्वयं सिद्धार्थ का दोष अपने ऊपर ले लिया है। इसलिये राजा होने के नाते वे भी निर्दोष हैं। यदि आप चाहें तो उस यजमान को दण्ड दिया जा सकता है जिसने इस प्रकार का पाप किया है।

सिद्धार्थ—(उठकर) मैं......।

महामंत्री—प्रिय ब्राह्मणो एवं सभासदो, मुझे इस बात का दुख है कि आपके यज्ञ में विघ्न डाला गाया।

(यजमान का प्रवेश)

यजमान—दुहाई महाराज की, मैंने सुना है कि अकारण ही कुमार देवदत्त को दण्ड दिया जा रहा है इसलिये मैं आया हूँ। मैं विश्वास करता हूँ, यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिये। यह कुमार देवदत्त की शिक्षा है जिसने आज मेरी आँखें खोल दी हैं। महाराज, मुझे दण्ड दीजिये, मैं सहने को तैयार हूँ। (शिर झुका कर बैठ जाता है)

सब ब्राह्मण—नास्तिक सेठ सभा में उपस्थित हैं। धर्म के घातक इस सेठ को दण्ड देना चाहिये।

एक सभासद्—इसका यह अपराध अमार्जनीय है।

दूसरा सभासद्—मूल पापी यही है।

तीसरा सभासद्—यही दोषी है।

सिद्धार्थ—महाराज, मैं प्रार्थना करता हूँ कि यह पुरुष निर्दोष है। हिंसा किसी भी तरह धर्म नहीं हो सकती।

महामंत्री—महाराज की आज्ञा है और मैं भी समझता हूँ कि पूर्ण विचार के साथ न्याय किया जाय। धर्म का तत्व बड़ा गहन है। यह साधारण मनुष्यों की बुद्धि से बाहर है इसलिये इसका निर्णय कल पर छोड़ा जाता है। कल सन्थागार में न्यायाध्यक्ष का जो निर्णय होगा, वही प्रजाजनों को मान्य होगा।

शुद्धोदन—इस समय सभा समाप्त होती है।

(परदा गिरता है)

चौथा दृश्य

मध्याह्नोत्तर काल

(उद्यान में गोपा और उसकी दो सखियाँ विद्यमान हैं। गोपा बैठी है

एक झूले पर, सामने बिछे हुए आसनों पर वाद्य साधनों के साथ सखियाँ बैठी हैं। गोपा कुछ उन्मन है, सखियाँ उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रही हैं। सब कन्याओं की वेश-भूषा सुन्दर, कटि के नीचे रेशमी वस्त्र, स्तन चोली से ढके हुए, बाल लहराते और फूलों से गुँथे हुए। एक के सिर पर एक वेणी है दूसरी के दो। शरीर पर आभूषण। गोपा सत्रह साल की उभरे हुए यौवन की शान्त गंभीर आकृति की वयस्क बाला है। उसके केशपाश फूलों से गुँथे हुए, सहज, सतेज सुन्दर मुखाकृति, गेहुँआ रंग, दुबली देहयष्टि, विशाल नेत्र गहराई लिए कर्ण विस्फारित. बैठी सोच रही है। हाथ में एक फूलों की माला है जिसके एक एक फूल को मानों ध्यान से देख रही है। कभी ध्यानस्थ हो जाती है, कभी सखियों की ओर देखने लगती है। सखियों के नाम हैं चारुहासिनी और विद्युत्माला।)

चारु—राजकुमारी, आज का समाचार तुमने सुना ?

विद्युत्—तुम जो कुछ समाचार लेकर आती हो उसमें राजकुमारी के सुनने योग्य कितना रहता है, यह हम जानती हैं।

चारु—कलिका के कुसुम बनने में भ्रमर का गुंजन ही अधिक रहता है, समुद्र की तरंगों में शशि के हास की तरह तुम्हारी दशा है।

विद्युत्—मेरा आशय यह है कि उसमें तुम्हारी इच्छाओं की प्रतिध्वनि ही अधिक होती है, तुम्हारे यौवन के उभारों का चमत्कार ही अधिक होता है। हृदय की अतृप्त अभिलाषा ही अधिक बोलती है।

चारु—बाहर से भले होने का कोई स्वाँग न कर सके तो भीतर भी क्या उसे वैसा कहा जायगा ?

विद्युत्—जिसने जीवन में कपट न किया हो उसमें बाहरी बनावट भी नहीं होती।

चारु—अर्थात् ।

विद्युत्—तुम्हारे भीतर उठने वाले प्रणय-धूम ने राजकुमारी की अपेक्षा तुम्हें अपनी ओर देखने को अधिक तन्मय कर दिया है। सखि, तुम फूलों की कविता सुनती हो, कलियों से अपने स्मय की तुलना करती हो, मृग से आँखें लड़ाकर उनकी विशालता नापती हो। इसीलिए कहा कि तुम जो समाचार लाती हो उसमें तुम्हारी ही अभिलाषा वेगवती होती है।

गोपा—सुन्दर।

चारु—और तुम जो कुछ कहती हो, वह दूसरों की विरह-वह्नि में जला हुआ, दूसरों के स्वप्नों में पला हुआ, दूसरों की बातें होना, मानों तुम्हारा अपना कुछ भी नहीं है। वेचारी भोली, निरपराध वालिका निःशून्य।

विद्युत्—इन्द्र ने शची को सर्वस्व समर्पण करने और अमरावती का राज्य दे देने के बाद भी देखा कि उसका मुख सदा उदास रहता है। उसके हृदय में सदा ही एक तीव्र अभिलाषा जागती रहती है......... ।

चारु—...कि वह विद्युत् की मादकता को, तीव्रता को एक घूँट में पान कर जाय।

विद्युत्—कामदेव की स्त्री रति के बाद उसे क्या बनना शेष रहा होगा, इसकी कल्पना चारु के अतिरिक्त और कौन कर सकता है। (गोपा से) तुम बताओ।

गोपा—मैं क्या जानूँ यही होगा, कि इन्द्र उसके चरणों के जावक से अपने मुकुट को सदा अभिषिक्त करता रहे।

विद्युत्—नहीं, स्त्री यह नहीं चाहती।

चारु—कि वह क्यों न और भी अधिक सुन्दर हो सकी।

गोपा—सुन्दर तो वह है, फिर शची ऐसा तो चाह नहीं सकती।

विद्युत्—हाँ, सुन्दरता की सीमा नहीं की जा सकती। वैसा सोचना तो कदाचित् शची के लिए ठीक न होगा। फिर भी मैं देखती हूँ, शची के हृदय में एक इच्छा थी।

गोपा—स्त्री ही इसे जान सकती है कि शची क्या चाहती थी।

चारु—साधारण स्त्री नहीं, विद्युत्माला जैसी।

गोपा—जिसके भी हृदय हो।

चारु— जिसके भी हृदय में आग हो, जिसकी आँखों में फूलों की मधुरिमा, वारुणी की उत्तेजना और साँसों में सुगन्धि हो।

विद्युत्—(हँसकर) वह मुझमें नहीं, तुममें है। हाँ, तो मैं कह रही थी कि शची क्या चाहती थी... ?

गोपा—क्या चाहती थी।

चारु—सचमुच कोई अद्भुत विचार उसके हृदय में जाग उठा होगा। विधाता ने क्या कान लगा कर उस समय नहीं सुना ?

गोपा—विद्युत् जो थी विधाता की ललित प्रतिमा। (हँसती है)

विद्युत्—वह हमारा बड़ा मृग दूसरे मृगों को रहने नहीं देना चाहता। उन्हें मारता है। डर कर बेचारे छोटे मृग सदा उससे दूर दूर रहते हैं।

चारु—समझ गई।

गोपा—क्या, मैं बतलाऊँ।

विद्युत्—हाँ, शची...।

चारु—शची चाहती थी कि संसार में कोई सुन्दर स्त्री न रहे।

गोपा—नहीं, शची चाहती थी कि सब नारियाँ कुरूप हो जायँ।

विद्युत्—बस बस, यही तो।

गोपा—पर यह संभव नहीं है।

चारु—मूर्खता है। मैं एक बात कहूँ...शची क्या चाहती थी, यह कौन जाने...?

विद्युत्—पर हमारी सखी चाहती है कि मैं वैसी हो जाऊँ।

गोपा—अर्थात् वैसा कुरूप! हा हा हा...।

विद्युत्—अनुपम। हा हा हा।

चारु—सुनो, आज का नया गीत सुनाती हूँ।

गोपा—क्या वही, जिसमें प्रणय का पागलपन होगा।

विद्युत्—आँखें नशीली, नाक नुकीली, मैं प्रियतम की याद भरी।

चारु—नहीं नहीं, तुम्हें नहीं सुनना है तो रहने दो।

(एक सखी का प्रवेश)

नई सखी—राजकुमारी, राजकुमारी?

चारु—(उचककर) क्या है क्या है? अरे बोल, जल्दी बोल। प्राण कंठ को आ रहा है। क्या समाचार है?

नई सखी—वह चित्र मिल गया।

गोपा—कहाँ?

नई सखी—महारानी जी के शयन-कक्ष में।

चारु—सखियो, हमारी राजकुमारी की एक मात्र उदासी का मूल कारण-रहस्य आज......।

गोपा—(दौड़कर उसका मुँह बन्द करती हुई) चुप।

चारु—देखो कह लेने दो।

गोपा—यह तेरा अपना होगा।

चारु—हाँ मेरा ही सही। तो मैं कहने जा रही हूँ कि......।

विद्युत्—किन्तु सखियो, मैं सुनने नहीं जा रही हूँ। हम लोग नहीं सुनना चाहतीं।

गोपा—यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता।

(इतने में सिद्धार्थ घबराये से उस तरफ आते हैं। सब सखियाँ एकदम खड़ी हो जाती हैं और गोपा भी।)

सिद्धार्थ—(घबराकर) मैं...मैं...(इधर उधर देखते हैं)

चारु—मैं मैं, नहीं आपको मालूम होना चाहिये, यहाँ पुरुषों का आना निषिद्ध है।

सिद्धार्थ—क्षमा कीजिए। मैं मार्ग भूल गया हूँ।

विद्युत्—किन्तु मार्ग भूलकर कोई किसी के घर में तो नहीं घुस जाता ?

(सिद्धार्थ सिटपिटाते से चुप रहते हैं और अपराधी की तरह गोपा की ओर देखते हैं। फिर दृष्टि नीची कर लेते हैं)

चारु--(सिद्धार्थ से) कहिए, इधर आप कैसे आ गये ? आप कौन हैं ?

विद्युत्—कहाँ रहते हैं ?

चारु—कितनी दूर ?

गोपा—(संकोच भरे नेत्रों से सिद्धार्थ को देखकर। स्वगत) चित्र से आकृति मिलती है। क्या वे ही तो नहीं हैं ?

विद्युत्—यह महाशय भूलकर आ गए हैं, इन्हें क्षमा कीजिए।

चारु—इसका क्या प्रमाण कि ये विना भूले नहीं आये हैं ?

विद्युत्—दोनों हो सकते हैं। कहिये ?

सिद्धार्थ—मेरे साथ मेरे एक मित्र भी थे।

चारु—यह तो निश्चय है कि वे आपके शत्रु नहीं हो सकते।

विद्युत्—हाँ,इस उद्यानमें भूलने और भुलानेवाला शत्रु नहीं होसकता।

सिद्धार्थ—क्या मैं वाहर जाने का मार्ग पूछ सकता हूँ।

चारु—इस उद्यान से वाहर जाने का मार्ग भूला हुआ यदि स्वयं न ढूँढ़ ले तो.........।

विद्युत्—तो उसका निकल सकना असंभव है।

सिद्धार्थ—आपने मुझे एक दिशा दिखाई है। (सोचने लगते हैं)

नई सखी—हमारी सखी पूछती हैं कि आप हैं कौन ?

विद्युत्—अर्थात् आप किस देश में रहते हैं ?

चारु—अर्थात् आपके देश का क्या नाम है ?

विद्युत्—और आपका क्या नाम है ?

नई सखी—आपके माता पिता का क्या नाम है ?

सिद्धार्थ—(हँसकर) एक साथ इतने प्रश्नों का उत्तर तो मैं न दे सकूँगा।

चारु—किन्तु हमारे देश में एक साथ इतने प्रश्नों का उत्तर न दे सकने वाले को आप जानते तो हैं क्या दण्ड मिलता है ?

सिद्धार्थ—वह दण्ड मैं भोगने के लिये प्रस्तुत हूँ।

चारु—इससे यह सिद्ध हुआ कि आप इस तरह के दण्ड कई वार भोग चुके हैं। कहिये......।

विद्युत्—कहिये आप क्या सोच रहे हैं ?

सिद्धार्थ—यही कि क्या यह भी जीवन है ?

चारु—ओ हो, आप दार्शनिक भी हैं क्या ?

विद्युत्—तो क्या आप समझते हैं यह जीवन नहीं है ?

सिद्धार्थ—आपकी इन (गोपा की तरफ) सखी का नाम मैं पूछ......।

चारु—पर पहले आप अपना नाम तो वतलाइए !

विद्युत्—यह दूसरा अपराध है कि एक तो आप किसी के उद्यान में

विना उसकी आज्ञा के आगये और उस पर स्वामी का नाम पूछने की धृष्टता करते हैं। आपको दण्ड सहने के लिये तैयार हो जाना चाहिए।

सिद्धार्थ—किस प्रकार का दण्ड मुझे सहना होगा?

चारु—हमारे यहाँ भूलकर आ जानेवाले व्यक्ति को जो दण्ड दिया जाता है उसकी व्यवस्था मनुष्य को देखकर की जाती है। पहले आप अपने नेत्र बन्द करेंगे।

सिद्धार्थ—फिर।

चारु—हाथ जोड़कर क्षमा माँगनी होगी। और कहना होगा कि देवि, (वैसा अभिनय करती है)।

सिद्धार्थ—अच्छा, देखता हूँ आप लोग कुशल गायिका, चतुर नागरिका ही नहीं, परिहास-प्रवीणा भी हैं।

चारु—(गंभीरता का अभिनय करके) आप इसको परिहास समझते हैं?

विद्युत्—यह आपका तीसरा अपराध है। अब आपको हमारी राजकुमारी के सन्थागार में तीन अपराधों के दण्ड-निर्णय की प्रतीक्षा करनी होगी।

चारु—उस समय तक आप इस उद्यान से बाहर नहीं जा सकते।

सिद्धार्थ—सिद्धार्थ आपकी सखी के सामने सब अपराधों का दण्ड सहने को प्रस्तुत है।

गोपा—सिद्धार्थ, सिद्धार्थ, (चारों कन्याएँ विस्मित, स्तब्ध, विजडित, सी हो जाती हैं और सिद्धार्थ बैठकर आँखें बन्द कर लेते हैं। सखियाँ सब चली जाती हैं, केवल गोपा रह जाती है) उठिये सिद्धार्थ, गोपा आपसे क्षमा माँगती है। (हाथ जोड़कर बैठ जाती है)।

सिद्धार्थ—(आँखें खोलकर देखते हैं, गोपा हाथ जोड़े खड़ी है और मर्मवेधी दृष्टि से सिद्धार्थ की ओर देख रही है। (हँसकर) दण्ड दीजिए न?

गोपा—आज मेरी चिर अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं सिद्धार्थ! जैसा मैंने आपके सौन्दर्य, रूप के सम्बन्ध में सुना था.........गोपा को क्षमा कीजिए।

सिद्धार्थ—(पास जाकर) गोपा, मालूम होता है पिता ने......(सिद्धार्थ सिद्धार्थ की आवाज आती है) अच्छा...जाता हूँ। (सस्मय गोपा को देखकर) देवदत्त! कहाँ हो?

गोपा—(गोपा सतृष्ण दृष्टि से देखती रह कर) यही मार्ग है जो काम्यक-द्वार की तरफ जाता है।

सिद्धार्थ—(धीरे से) गोपा!

गोपा—(उसी स्वर से) सिद्धार्थ।

पाँचवाँ दृश्य

विवाह के बाद। समय—सायंकाल

(गोपा पहले दृश्य में दिखाए हुए उद्यान में स्फटिक शिलातल पर बैठी है। समय की उज्ज्वलता, परिस्थिति की मादकता से गोपा प्रसन्न है। पास ही मृग का एक छौना चौकड़ियाँ भर रहा है। हाथ में वीणा लिये गोपा गा रही है। गीत की ध्वनि सुनते ही मृग पास आकर खड़ा हो गया है और वीणा को बार बार सूँघने आगे बढ़ता है। सिद्धार्थ चुपचाप छिपे हुए गोपा को देख रहे हैं।)

गीत

प्रिय पग बढ़ाती चल—
स्नेह जीवन, पुलक के तन,
साधना के सफल नर्तन;

कुसुम के उल्लास से मधुमास के उच्छ्वास संबल।

धड़कन जगाती चल,

प्रिय पग चढ़ाती चल।

विरह गीले—स्वर सजीले,

विन्दु में सागर समीले,

रोम वीणा पर पुलक के स्वर सजाती चल।

लय गीत गाती चल;

प्रिय पथ बनाती चल;

प्रिय पग चढ़ाती चल।

(गोपा के गीत की ध्वनि इतनी मादक और मोहक हो जाती है कि संपूर्ण उद्यान और दिशायें मानों चुप होकर गीत से प्रतिध्वनित हो उठती हैं। सिद्धार्थ अचानक ही गोपा के पास आकर खड़े हो जाते हैं, किन्तु गोपा गीत की तन्मयता, बेसुधी में मग्न है। इस कारण सिद्धार्थ की पदचाप सुनकर भी वैसी ही बैठी रहती है। उसकी तन्मयता को देखकर—)

सिद्धार्थ—(मुग्ध से होकर) कितना सुन्दर गीत है। गोपा ?

गोपा—(एकदम जागकर) प्राणनाथ आप !

सिद्धार्थ—बहुत सुन्दर गाती हो गोपा।

गोपा—(लज्जा से सिमटी सी) कुछ नहीं, मन नहीं लग रहा था। (उठकर खड़ी हो जाती है)

सिद्धार्थ—बैठो, (स्वयं बैठकर) कितना पवित्र हृदय है तुम्हारा। कितना अकलुष सौन्दर्य ! सिद्धार्थ, तुम्हें गृहस्थधर्म के लिए पाकर धन्य हो गया गोपा ! (गोपा सिद्धार्थ का मुँह बन्द करके)

गोपा—ऐसा न कहिए प्राणनाथ ! गोपा किस योग्य है ?

सिद्धार्थ—नहीं गोपा, (गोपा का हाथ अपने हाथों में लेकर) इसमें

अत्युक्ति कुछ भी नहीं है। साधारण जीवन के पथ की सफलता के लिए नर नारी जो कुछ चेष्टा करते हैं उसके अनुसार हम लोग बहुत सुखी हैं। बहुत आनन्दित हैं।

गोपा—(आश्चर्य से) और असाधारण जीवन के लिये ?

सिद्धार्थ—(उसी मुद्रा से) असाधारण के लिये कुछ न पूछो गोपा ?

गोपा—क्यों ?

सिद्धार्थ—इसलिए कि सिद्धार्थ स्वयं कुछ नहीं जानता। वह न अपने को जानता है न पर को।

गोपा—मेरे प्राणनाथ को कोई आन्तरिक पीड़ा है क्या ? गोपा सर्वस्व देकर भी यदि प्रियतम की चिन्ता दूर कर सके...।

सिद्धार्थ—(उसी मुद्रा से देखते रहते हैं)

गोपा—कहिये, चुप क्यों हैं। पत्नी का कर्तव्य है कि पति को हर प्रकार से सुखी रखे, मेरा यह सब कुछ आपके चरणों पर अर्पित है पतिदेव ? (चरणों पर गिर जाती है)

सिद्धार्थ—(गोपा से शरीर स्पर्श से संज्ञा प्राप्त करके) हैं हैं, यह क्या करती हो। उठो, उठो गोपा। मेरा कष्ट, मेरी चिन्ता...जाने दो। (उठकर) अच्छा, तुम वह गीत तो सुनाओ जो सुकेशी से उस दिन तुमने सुना था।

गोपा—(स्वस्थ होकर) कौन सा ?

सिद्धार्थ—वही—'कौन हँस शृंगार करता'।

गोपा—जो आज्ञा (वीणा लेकर गीत गाती है। सिद्धार्थ ध्यानस्थ होकर सुनने लगते हैं। गीत समाप्त होने पर गोपा देखती है, पतिदेव ध्यानमग्न हैं। बहुत देर देखती रहकर) पतिदेव, पतिदेव, प्राणनाथ। जागो, जागो नाथ। शब्द सुनकर सखियाँ दौड़कर आ जाती हैं।

चारु—क्या है, क्या हुआ ?

सुकेशी—युवराज को वह गीत मत सुनाओ देवी ! उस गीत को सुनकर न जाने किस ध्यान में तन्मय हो उठते हैं कुमार ! न जाने किस बुरी घड़ी में वह गीत मैंने रचा था।

गोपा—युवराज की इच्छा थी, उनकी आज्ञा थी सुकेशी।

सुकेशी—अवश्य, वह गीत उन्हें बड़ा प्रिय है। किन्तु विषपायी को विष की तीव्रता के समान यह इनकी सुध-बुध भी भुला देता है।

गोपा—अब क्या हो।

सिद्धार्थ—(चैतन्य प्राप्त करके) कुछ भी नहीं गोपा, मैं तुम्हारे इस गीत को सुनकर इतना तन्मय हो गया कि मुझे कुछ भी सुध बुध नहीं रही। (गोपा देखती है, सिद्धार्थ के चेहरे पर इतना तेज तथा शान्ति विराजमान है कि वह उनके सामने अभिभूत सी होगई है। इसलिए एकदम उनके चरणों पर गिर जाती है। सखियाँ चली जाती हैं)

गोपा—प्राणनाथ, गोपा (भय से व्याकुल और अनागत की चिन्ता से विह्वल होकर) आपके चरणों की रति चाहती है। यही वरदान दीजिए प्रभो !

सिद्धार्थ—गोपा स्वस्थ हो। मैं जीवन की कटुता से घबरा उठा हूँ। मैं सोचता हूँ, यह संसार क्या है ?

गोपा—हम लोग क्या संसार से भिन्न हैं ? यह सुख, यह सौन्दर्य, यह राशि राशि उल्लास क्या संसार से भिन्न है। आप इसे क्यों नहीं देखते ?

सिद्धार्थ—और यह मृत्यु, यह रोग, यह पीड़ा, यह दरिद्रता, यह अस्थिरता क्या है ?

गोपा—जीवन बहुत बड़ा है। मकान में यदि शयन-कक्ष है, उद्यान है, सब प्रकार का विलास है तो नाली भी तो रहेगी।

सिद्धार्थ—(चुप रहकर) हूँ।

गोपा—कहिये प्राणनाथ, चुप क्यों हो गये ?

सिद्धार्थ—परन्तु मनुष्य की आशा में निराशा, उद्योग में असफलता, भाग्य में विपरीतता, यह सब क्यों मनुष्य के पीछे पड़ी है। यही तो सोचता हूँ। शास्त्र कहते हैं, ईश्वर सब कुछ करता है। वह ईश्वर कैसा है जो अपने बच्चों को दुख देता है। नहीं, वह ईश्वर नहीं है। कोई भी नहीं है। परन्तु क्या है ?

गोपा—यह मृगछौना कितना सुन्दर है। कितना चंचल ? क्या इसे किसी प्रकार का कष्ट है ?

सिद्धार्थ—तुम्हें नहीं मालूम गोपा ! एक दिन इसकी माँ ने किस प्रकार छटपटाकर प्राण दिए थे। उस समय की अवस्था को याद करके मेरे प्राण काँप उठते हैं।

गोपा—(निष्प्रभ होकर) मैं कुछ भी नहीं जानती नाथ !

(देवदत्त का प्रवेश। गोपा चली जाती है।)

देवदत्त—सन्थागार ने निर्णय दे दिया युवराज ?

सिद्धार्थ—क्या ?

देवदत्त—मेरे पक्ष में। कहा, बलि नहीं होनी चाहिए। सेठ का विश्वास सत्य है।

सिद्धार्थ—किसने निर्णय दिया।

देवदत्त—महाराज ने फैसला किया, यद्यपि अन्य लोग इसके विपक्ष में थे।

सिद्धार्थ—निर्णय देते हुए महाराज ने क्या कहा ?

देवदत्त—कहा कि न्याय-अन्याय मैं कुछ भी नहीं जानता। विपक्ष में निर्णय देने से सिद्धार्थ को दुख होगा इसलिये—

सिद्धार्थ—ठहरो, ठहरो। यह अन्याय हुआ है।

देवदत्त—कैसे... ?

सिद्धार्थ—पिता ने पुत्र-स्नेह पालन किया है।

देवदत्त—पर निर्णय तो सत्य पक्ष में हुआ है!

सिद्धार्थ—पर विश्वासपूर्वक यह निर्णय नहीं हुआ। पिता के हृदय में संशय है, विचिकित्सा है। वे मेरे स्नेह से अभिभूत होकर ऐसा निर्णय कर बैठे हैं। यह ठीक नहीं है। विश्वास दिलाना होगा। तर्क बदलना होगा। नई दृष्टि से जीवन को देखना होगा। मृत्यु का, दुख का ठीक निदान ढूँढ़ना होगा। मैं नगर भ्रमण करना चाहता हूँ देवदत्त!

देवदत्त—यह कौन बड़ी बात है युवराज! सब प्रबन्ध हो सकेगा।

(शुद्धोदन का महामंत्री के साथ प्रवेश)

सिद्धार्थ—(उठकर अभिवादन करते हुए) प्रणाम करता हूँ पिताजी।

शुद्धोदन—बैठो बैठो पुत्र! मंत्रीजी, उद्यान कुछ उजड़ा हुआ देख पड़ता है। नये नये पुष्प और लगाने चाहिये। विश्वकर्मा से कहो। उद्यान को अच्छे से अच्छे ढंग से सजा दे।

मंत्री—जी!

शुद्धोदन—संगीत, नृत्य, वादन का सब साधन यहाँ उपस्थित रहना चाहिये। राजनर्तकी कहाँ है, आज इसी उद्यान में हम उसका नृत्य देखना चाहते हैं। सिद्धार्थ भी यहीं रहेंगे।

सिद्धार्थ—पिताजी, मैं नगर-भ्रमण करना चाहता हूँ।

शुद्धोदन—(घबराकर) क्यों बेटा!

सिद्धार्थ—मेरी इच्छा ऐसी ही है।

शुद्धोदन—राजकुमारों को बार-बार नगर में नहीं जाना चाहिए। प्रजाजन को कष्ट होता है।

सिद्धार्थ—मैं प्रजाजन को उनके वास्तविक रूप में देखना चाहता हूँ।

मंत्री—युवराज, प्रजाजन आपके पुत्र के समान हैं। पिता के सामने पुत्र को अस्त-व्यस्त रूप में छोड़कर विनीत भाव से उपस्थित होना होता है इसलिये हर समय प्रजा के सम्मुख राजा का उपस्थित होना उन्हें कष्टकर है।

शुद्धोदन—तुम राजकुमार हो, उनके भाग्यविधाता हो। वार वार उनसे मिलते रहने पर कभी वे उद्धत हो सकते हैं।

सिद्धार्थ—मैं प्रजा की वास्तविक दशा देखना चाहता हूँ।

शुद्धोदन—हाँ हाँ, यह तो राजा का प्रधान कर्तव्य है, पर मेरे रहते अभी तुम्हें इन वातों की चिन्ता न करनी चाहिए बेटा, फिर भी मंत्रिन्, राजकुमार की इच्छा पूर्ण होनी चाहिए। सुनो, राजसी ठाठ से युवराज का नगर-प्रवेश हो।

मंत्री—जो आज्ञा (सिद्धार्थ कुछ सोचते हुए निकल जाते हैं)।

शुद्धोदन—युवराज को देखकर मुझे वहुत संशय हो उठता है मंत्रिन् !

मंत्री—युवराज साधारण राजकुमार नहीं हैं महाराज ! ये कोई अलौकिक विभूति हैं। इनकी मुखाकृति, हाव भाव असाधारण है महाराज !

शुद्धोदन—(चिन्तित होकर) जितना ही इनके मन बहलाने का मैं यत्न करता हूँ, उतना ही ये और उदासीन होते जाते हैं। (इधर उधर देखकर) देवदत्त, सुकेशी को बुलाओ। (देवदत्त

जाता है) बड़ी चिन्ता रहती है मंत्री। यह पुत्र मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है। एक दिन स्वप्न में मैंने देखा... ओह मत पूछो...।

मंत्री—स्वप्न सत्य नहीं होता महाराज !

शुद्धोदन—(चुप रहते हैं। सुकेशी आती है) युवराज की अब क्या अवस्था है सुकेशी !

सुकेशी—गोपा देवी और मेरे निरंतर प्रयत्न करते रहने पर भी उनमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो रहा है। सदा ही कुछ न कुछ वे सोचा करते हैं।

शुद्धोदन—गोपा से उनका व्यवहार !

सुकेशी—बहुत सुन्दर, बहुत सभ्य !

शुद्धोदन—गोपा पर युवराज प्रसन्न तो रहते हैं !

सुकेशी—उन्हें कभी किसी पर क्रुद्ध होते तो मैंने देखा ही नहीं।

शुद्धोदन—मैं पूछता हूँ गोपा से वे प्रेम करते हैं ?

सुकेशी—जी ! गोपा रानी के साथ वे बैठते हैं, बात करते हैं, हँसते हैं परन्तु स्थिर गंभीरता उनमें बराबर बनी रहती है महाराज !

शुद्धोदन—संगीत, नृत्य उनको कैसा लगता है ? मैं कुछ नहीं जानता जिसमें युवराज का मन लगे वह काम होना चाहिये। समझी !

सुकेशी—हम लोग सदा उनकी प्रसन्नता का ध्यान रखती हैं। इसके अतिरिक्त न जाने क्यों... (चुप रहती है)।

शुद्धोदन—कहो।

सुकेशी—हम प्राणपण से उन्हें प्रसन्न रखने में अपनी सार्थकता समझती हैं।

शुद्धोदन—देखो सुकेशी, मेरा और कोई नहीं है। मेरी आँखों का

प्रकाश, मेरे हृदय का बल यह सिद्धार्थ है। मुझे उसके सामने न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, ज्ञान-विज्ञान कुछ भी नहीं सूझता। मेरे जीवन का एकमात्र सूत्र यह युवराज है। (डर से आँखों में विकृति आ जाती है) उस दिन का स्वप्न नहीं, नहीं कहूँगा। (स्वस्थ होकर) और क्या-क्या उपाय हैं वे सब करने होंगे। मंत्री जी! वे सब उपाय करो। देखो, मैं घबरा रहा हूँ। मेरा जीवन नष्ट न हो जाय।

(शुद्धोदन गिरने लगते हैं। सब लोग उनको सँभाल कर ले जाते हैं।)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

[रंगमंच के ऐसे समय में दो भाग होंगे। भीतर के भाग में राजकुमार का रथ इस प्रकार हिल रहा हो, जिससे मालूम हो, रथ चल रहा है। उसके साथ दो फुट ऊँचे पर्दे पर दुकानों के दृश्य अंकित होंगे। लोग विक्रयार्थ वस्तुएँ सजाए बैठे होंगे। उसके सामने एक सड़क का दृश्य होगा, जिस पर लोग आते-जाते दिखाई देंगे। सिद्धार्थ के नगर-प्रवेश के कारण नगर सजा हुआ दिखाई दे रहा है। कहीं भी कोई दरिद्र, बीमार, मैले कुचैले वस्त्रोंवाला व्यक्ति न दिखाई दे, इसकी विशेष व्यवस्था की गई है।]

सैनिक—ऐ, सुनते हो।

पहला नागरिक—जी!

सैनिक—तुम्हारे वस्त्र फटे क्यों हैं ? हटो, भाग जाओ।

पहला नागरिक—क्या करूँ महाशय, मैं दरिद्र व्यक्ति हूँ।

सैनिक—भागो, तुम्हें मालूम नहीं है, युवराज की सवारी आ रही है।

दूसरा सैनिक—(डण्डा फटकारकर) देखो जी ! सुना, युवराज की सवारी आ रही है। तुमने दुकान नहीं सजाई ! सजाओ दुकान।

दूसरा नागरिक—महाशय, भोजन तो मिलता ही नहीं, दुकान क्या सजाऊँ ?

दूसरा सैनिक—नहीं नहीं, सजाओ। (आगे निकल जाता है)

तीसरा सैनिक—ऐ, तुम बूढ़े मनुष्य इधर कहाँ जाते हो ?

तीसरा नागरिक—(आश्चर्य से) क्यों, क्या चलूँ भी नहीं। भाई थोड़े दिन का अतिथि हूँ ! जाने दो।

तीसरा सैनिक—नहीं, इधर से नहीं जा सकते। जानते नहीं हो, युवराज नगर देखने आ रहे हैं।

एक रोगी—(लकड़ी टेकता हुआ) हम युवराज के दर्शन करने आये हैं। ऐसे हमारे कहाँ भाग, जो युवराज का दर्शन कर सकें। जाने दो भाई। (दूसरे स) कहते क्यों नहीं हो जी ?

एक भिखारी—हम उनसे कुछ माँगेंगे थोड़े। केवल दर्शन करेंगे।

एक सैनिक—सुनो, सुनो, (सब लोग सावधान होकर सुनते हैं) देखो, महाराज शुद्धोदन की आज्ञा से मैं तुमसे कहता हूँ कि जब युवराज सिद्धार्थ की सवारी आवे तो कोई रोगी, दरिद्र, उनके सामने से न निकले।

पहला नागरिक—पीछे होकर निकल जायँ।

सैनिक—नहीं, पीछे होकर भी नहीं।

दूसरा नागरिक—दाएँ-बाएँ।

सैनिक—नहीं, दाएँ-बाएँ भी नहीं।

तीसरा नागरिक—ऊपर-नीचे होकर तो जा सकता हूँ न?

दूसरा सैनिक—चुप रहो! हँसी करते हो। तुम्हें दण्ड होगा।

(पकड़ने दौड़ता है। वह भाग जाता है। युवराज की सवारी आती है। उधर से सैनिक एक व्यक्ति को पकड़कर लाता है।)

साधुक—युवराज युवराज! सुनो, मैं तुमसे मिलना चाहता था। हमारा निर्णय करते जाओ।

सिद्धार्थ—साधुक, यह तुम्हारा क्या वेश है, सैनिक इसको छोड़ दो।

सैनिक—युवराज यह कहता है, न कोई राजा है न प्रजा!

साधुक—हाँ सिद्धार्थ, न कोई राजा है न प्रजा: सब मनुष्य एक हैं। सब प्राणी एक हैं।

सिद्धार्थ—सब प्राणी एक हैं?

साधुक—सब प्राणी एक हैं सिद्धार्थ। यह तुम्हारा अन्याय है कि तुम राजकुमार हो।

पहला नागरिक—यह पागल है। नगरश्रेष्ठी कुल का पुत्र पागल हो गया है।

सिद्धार्थ—अव्यवस्था दूर करने के लिये राजा का होना आवश्यक है साधुक!

साधुक—अव्यवस्था, अव्यवस्था कैसी? व्यवस्था से ही अव्यवस्था होती है। राजा न होगा तो प्रजा न होगी। प्रजा न होगी तो कोई किसी पर शासन न करेगा। शासन ही दुःख है।

सिद्धार्थ—शासन का अर्थ है संयम। संयम में सुख है साधुक। जिस शासन में राजा प्रजा को रखता है, उसी शासन में उसे

रहना चाहिए। राजा प्रजा के कल्याण के लिये है। राजा का कोई और अर्थ नहीं है साधुक !

साधुक—शासन का अर्थ है संयम, यह तो मैंने सोचा नहीं था। अब सोचूँगा। एक बात और। लोग मुझे पागल कहते हैं। क्या मैं पागल हूँ ?

सिद्धार्थ—तुम क्या चाहते हो ?

साधुक—चाहता तो कुछ भी नहीं, पर न जाने क्या चाहता हूँ? जो सोचता हूँ, वह ठीक नहीं रहता। जो सत्य है, वही मैं जानना चाहता हूँ युवराज। मुझे बहुत कुछ पढ़ने पर भी संतोष नहीं होता। मैं पागल हो गया हूँ युवराज ! यह सब संसार पागल ही तो है। अपनी बनाई बातों को मानना क्या पागलपन है ? मैं भी वही मानता हूँ।

छंदक—यह पथभ्रष्ट ज्ञानी है। इसका मस्तिष्क विकृत हो गया है।

सिद्धार्थ—इसे कोई समझा भी नहीं सकता। इस मनुष्य ने अपने आप अपने दुःख एकत्रित किये हैं।

साधुक—(अपनी धुन में) वेद, शास्त्र, मनुष्य, जीवन सब व्यर्थ हैं। मृत्यु ही वास्तविक सुख है।

सिद्धार्थ—मृत्यु क्या, नहीं ऐसा ज्ञान कर्महीन पुरुष कहते हैं साधुक !

साधुक—मैं तुमसे नहीं बोलता। मैं सोचूँगा। कल्याण कुछ नहीं, अकल्याण भी कुछ नहीं। यह जीवन द्वन्द्व समास के समान है परन्तु एक शेष होने में ही सार्थकता है। मैं साधु होऊँगा युवराज ! सिद्ध। सब व्यर्थ है। (चला जाता है)

सिद्धार्थ—गुरु जी ने अनधिकारी को उपदेश देकर नष्ट कर दिया। मुझे बड़ा दुःख है।

छंदक—नहीं युवराज, यह प्रारंभ से ही ऐसा था। (एक दरिद्र आता है)

दरिद्र—युवराज, युवराज ! मैं बड़ा दुखी हूँ।

सैनिक—दूर हट ! (पकड़ता है)

सिद्धार्थ—ठहरो, यह कौन है ?

दरिद्र—युवराज, मेरे पापों का अन्त कब होगा ?

छंदक—तुम क्या चाहते हो ?

दरिद्र—जो मैं चाहता हूँ, वह मुझे नहीं मिलता।

सिद्धार्थ—क्या चाहते हो ?

दरिद्र—मुझे इस बात का दुःख है कि मैं दुखी क्यों हूँ ?

एक नागरिक—युवराज ! इस व्यक्ति ने विलास में सब कुछ खो दिया। इसकी स्त्री इस दुराचारी को छोड़कर चली गई। पिता ने मरते समय इसको अपार संपत्ति दी थी; किन्तु आज यह भीख माँग रहा है।

छंदक—इसे यहाँ आने किसने दिया ?

सिद्धार्थ—इसने अमृत की आशा में विष पान किया है। ओह ! अज्ञान ही दुखों का कारण है।

(लोग उसे हटा देते हैं। एक रोगी बैसाखी के सहारे आता है किन्तु भीड़ में दबने से जोर से कराहकर गिर पड़ता है) देखो, देखो, वह कौन है ?

(सामने लाया जाता है)

एक नागरिक—यह रोगी है युवराज !

रोगी—हाय, मर रहा हूँ, दर्शन करने आया था। मैं भी पहले आप

ही की तरह स्वस्थ था किन्तु प्रवास ने प्राण तोड़ दिये।

(श्वास से दम फूलने लगता है। लोग हटा देते हैं)

सिद्धार्थ—कितना दुख है इस व्यक्ति को। (उदास भाव से रथ पर बैठ जाते हैं। इतने में एक अर्थी आने की आवाज—राम नाम सत्य है, अर्थी आ जाती है) छंदक, यह क्या है ?

छंदक—कुछ नहीं युवराज !

एक नागरिक—(चिल्लाकर) मर गया ! अभी कल तक तो अच्छा था।

सिद्धार्थ—क्या यह मर गया है ?

छंदक—हाँ युवराज !

सिद्धार्थ—मैं देखना चाहता हूँ।

छंदक—क्षमा कीजिये, इसको देखना ठीक नहीं है।

सिद्धार्थ—(सोचते हुए) मनुष्य मर भी जाता है। क्या यही मृत्यु है। छंदक, रथ लौटा ले चलो। मैं आगे नहीं जाऊँगा।

छंदक—युवराज, वसन्तोत्सव का उद्यान सामने है। वहाँ बहुत सुन्दर दृश्य युवराज देखेंगे।

सिद्धार्थ—नहीं छंदक, मैं आगे नहीं जाऊँगा। लौटो !

छंदक—पीछे बहुत भीड़ आ रही है। महाराज की आज्ञा थी कि आपको वसन्तोद्यान दिखाया जाय। वहाँ आपके स्वागत का विशेष आयोजन किया गया है राजकुमार !

सिद्धार्थ—नहीं छंदक ! मैंने बहुत देखा। जो देखा है वही वास्तव है। वही वस्तुतः मनुष्य है, वही संसार है। जो तुम मुझे दिखाना चाहते हो, वह भ्रान्ति है। बनावटी है। चलो !

(छंदक रथ लौटा ले जाता है। सिद्धार्थ चिन्तामग्न हो जाते हैं।)

दूसरा दृश्य

कपिलवस्तु का सन्थागार

[विद्वान् ब्राह्मण लोग तिलक लगाए, बड़े-बड़े धर्मशास्त्र के ग्रन्थ सामने रखे बैठे हैं। एक उच्च आसन पर राजा शुद्धोदन का स्थान खाली है। राजा के सिंहासन के बराबर धर्माध्यक्ष बैठे हैं। लेखक यथास्थान बैठे हैं। सिंहासन के समीप सिद्धार्थ का आसन है। सिद्धार्थ भी बैठे हैं। प्रार्थी लोग यथास्थान खड़े हैं।]

एक प्रार्थी—महाराज! इस शूद्रक ने मेरे घर में प्रवेश करके मेरा घर अपवित्र कर डाला। मेरे निषेध करने पर भी यह दुष्ट घर में घुस आया और मेरा घर कलुषित कर दिया।

(प्रतिपक्षी) शूद्रक—महाराज, मैं व्यर्थ ही इनके घर में नहीं घुसा। बाजार के कुछ व्यक्तियों ने एकान्त जाते हुए भी दो साँड़ मेरे पीछे दौड़ा दिये। वे साँड़ मेरे पीछे दौड़ते जाते थे और पीछे से लोग उन्हें डंडों से सी-सी करके उकसाते जाते थे। जब मैंने देखा कि मेरे बचने का कोई उपाय नहीं है तो इस जीवक के घर में घुस गया। मैंने जो कुछ किया, प्राण-रक्षा के लिये किया है। मैं क्षमा चाहता हूँ महाराज!

एक पंडित—तो तुम इस ब्राह्मण के घर में घुसे क्यों?

शूद्रक—जी, प्राण बचाने के लिये।

दूसरा पंडित—तो तुम अपराध स्वीकार करते हो।

शूद्रक—जी।

पहला पंडित—तुम्हें ज्ञात है तुम्हारे जाने से ब्राह्मण का घर अपवित्र हो गया।

(शूद्रक चुप रहता है)

सिद्धार्थ—प्राणरक्षा सब धर्मों से बढ़कर है।

पहला पंडित—दूसरे को अपावन करके, हानि पहुँचाकर प्राणरक्षा उचित नहीं है। यह शूद्र है, शूद्र भी चाण्डाल, इसने जीवक ब्राह्मण के घर को अपवित्र किया। इसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा।

सिद्धार्थ—जानकर तो इसने यह नहीं किया। संकट काल के कारण इसे वैसा करना पड़ा। मेरे विचार में शूद्रक निरपराध है।

शूद्रक—जय हो युवराज की!

न्यायाध्यक्ष—चुप रहो! जान में हो या अनजान में, तुमने लोकाचार के विरुद्ध आचरण किया है। ब्राह्मण को इससे आघात पहुँचा...।

पहला पंडित—इसलिये शूद्रक दण्ड्य है।

न्यायाध्यक्ष—हाँ, शूद्रक दण्ड्य है। शूद्रक पन्द्रह स्वर्ण कार्षापण जीवक को देगा। न देने पर दो वर्ष तक उसका भृत्य होकर रहेगा। (लेखक निर्णय लिखते हैं और न्यायाध्यक्ष अपने हस्ताक्षर करते हैं।)

सिद्धार्थ—क्या लोकाचार भी धर्म है?

पहला पंडित—तुम नहीं समझ सकते युवराज! धर्म का रहस्य बड़ा गहन है। केवल विद्वान् ब्राह्मण ही इसको जान सकते हैं।

जीवक—न्यायाध्यक्ष की जय हो! (दोनों चले जाते हैं। कर्मचारी घण्टा बजाते हैं और दो प्रार्थी और आते हैं।)

एक प्रार्थी—इस यज्ञदत्त ने मेरा अज चुरा लिया और यज्ञ में ले जाकर उसकी बलि दे दी।

प्रतिपक्षी—मैंने यज्ञ प्रारम्भ किया देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, किन्तु दरिद्रता के कारण बलि के लिये अज का आयोजन न कर सका। मैंने नम्रता से, विनय से यज्ञदत्त से छाग माँगा किन्तु इसने देने से निषेध किया। यज्ञ बिगड़ा जाता था इसलिये मैंने फिर मूल्य चुका देने के वचन पर इसका छाग खुलवा लिया और बलि दे दी। मैंने तस्करता नहीं की धर्माध्यक्ष! धर्म का ही पालन किया है।

एक पंडित—धर्म में व्याघात डालने के कारण प्रार्थी दोषी है और उस समय जब इस यज्ञकर्ता ने मूल्य चुकाने का वचन दिया हो।

दूसरा पंडित—दूसरे को हानि पहुँचाकर धर्म-कार्य कभी सफल नहीं कहला सकता। यज्ञकर्ता दोषी है।

पहला पंडित—प्राण कंठ में आने पर भी धर्म को न छोड़े। ब्राह्मण का कार्य यज्ञ करना है। यदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए उसने यज्ञ किया तो एक प्रकार से धर्मकार्य किया। और प्रधान धर्म-पालन के लिये गौण कार्य चौर कर्म है। यद्यपि प्रतिपक्षी इसको चोरी नहीं कहता, वह तो छाग का मूल्य फिर चुका देने को कहता है। ऐसी अवस्था में छाग का अपहरण कार्य की महत्ता के कारण लघु है। अतः याज्ञिक निर्दोष है।

सिद्धार्थ—क्या यज्ञ में बलि देना आवश्यक है?

न्यायाध्यक्ष—बलि के विना यज्ञ सांगोपांग नहीं हो सकता। मैं निर्णय देता हूँ प्रतिवादी वादी को यज्ञ के शेषांश में से कुछ दे और भविष्य में इस प्रकार कार्य न करने का वचन भी,

तभी उसे छोड़ा जाय। वादी को धर्मपालन के लिये सहायता करने की भविष्य में प्रतिज्ञा करनी होगी। (लेखक निर्णय लिखते हैं, न्यायाध्यक्ष हस्ताक्षर करते हैं। दोनों चले जाते हैं।)

(दो और आते हैं)

वादी—मेरी एक प्रार्थना है।

एक पंडित—क्या तुम ब्राह्मण हो? बैठ जाओ।

वादी—प्रतिवादी मेरे अभिन्न मित्र हैं। मैं इनके यहाँ आकर ठहरा और इनकी अनुपस्थिति में मैंने उद्यान से फल तोड़कर खा लिये। इसमें संदेह नहीं कि मुझे क्षुधा लग रही थी किन्तु है तो यह अपराध ही। मैं दण्ड चाहता हूँ।

प्रतिवादी—वादी मेरे मित्र हैं। मेरा कर्तव्य था कि मित्र के घर आने पर मैं सत्कार करता, इसी निमित्त भोजन सामग्री लेने नगर को चला गया। वहाँ अनावश्यक रूप से विलंब हो गया। सायंकाल लौटने पर देखता हूँ कि मित्र बहुत उद्विग्न हैं। कारण वही है जो उन्होंने सन्थागार के सामने रखा। मेरा वक्तव्य यह है कि मित्र ने चौर कर्म नहीं किया। मैंने ही अपनी असावधानी से मित्र का तिरस्कार किया और उनका ठीक-ठीक सत्कार न कर सका: वस्तुतः मैं दण्डित हूँ, मित्र नहीं।

पहला पंडित—सच्चरित्र व्यक्तियों का अभियोग ऐसा ही होता है।

दूसरा पंडित—धर्म भावना ही दण्ड चाहने का कारण है।

सिद्धार्थ—मैं यह नहीं जानता कि शास्त्र किसे दोषी ठहराता है परन्तु आप दोनों ही वन्दनीय हैं।

वादी—मुझे शास्त्रानुसार दण्ड मिलना चाहिए।

प्रतिवादी—मुझे धर्मानुसार दण्ड मिलना चाहिए।

वादी—दोषी मैं हूँ। यदि मुझे दण्ड नहीं दिया गया तो समाज में चौर कर्म बढ़ जायगा, मुझे स्वर्ग नहीं मिलेगा।

पहला पंडित—तो तुम चौरकर्म स्वीकार करते हो !

वादी—जी ! जान में, अनजान में, क्षुधा में मैंने चोरी की है।

न्यायाध्यक्ष—जानते हो शास्त्र में चोरी का क्या दण्ड है ?

वादी—उँगलियाँ काट देना।

न्यायाध्यक्ष—नहीं, हाथ काट देना।

वादी—जी, मैं तैयार हूँ।

प्रतिवादी—(हाथ जोड़कर) ऐसा न कीजिये न्यायाध्यक्ष, इस पाप का कारण मैं हूँ।

न्यायाध्यक्ष—वादी का हाथ काट दिया जाय। इसने चोरी की है। यह स्वीकार भी करता है और प्रतिवादी दो वर्ष तक वादी का अनुगत भृत्य रहकर सेवा करता रहे।

वादी—न्यायाध्यक्ष की जय हो।

प्रतिवादी—न्याय की विजय हो।

सिद्धार्थ—न्याय बड़ा कठोर है। उसके आँखें नहीं हैं, हृदय नहीं है। वह यंत्र है।

(उठकर चले जाते हैं—न्यायाध्यक्ष उनके पीछे चले जाते हैं।)

तीसरा दृश्य

[नेपथ्य में शहनाई बज रही है। रंगमंच पर गोपा के प्रसूतिकागार का दृश्य एक बारीक रेशमी मसहरी के भीतर। गोपा पलँग पर लेटी है। उसका नवजात बालक पास सो रहा है। कुछ सखियाँ पलँग के पास चटाई बिछी भूमि पर

बैठी हैं। कुछ इधर से उधर जाती-आती व्यग्र सी दिखाई दे रही हैं। गौतमी आनंद और उल्लास से भरी हुई आती है खूब शृंगार किये। प्रसूतिकागार में धूप, अगर, चंदन की बत्तियाँ जल रही हैं। चटाई पर बैठी हुई सखियों के पास गाने और बजाने का सामान रखा है।]

एक सखी—अरी गाओ सखियो, इससे अधिक आनंद का और कौन सा दिन होगा?

दूसरी सखी—बधाई गाओ बधाई।

तीसरी सखी—आज महाराज की अभिलाषाओं की, राज्य की श्रीवृद्धि का दिन है।

(गौतमी आती है)

सब सखियाँ—बधाई हो महारानी?

गौतमी—तुम्हें भी मेरी प्यारी बेटियो! आज कितनी प्रसन्नता का दिन है। मेरी जन्म भर की सिद्धार्थ की सेवा, उनके पालन-पोषण का फल मुझे ईश्वर ने दिया है। अरी कुछ गाओ। बधाई गाओ।

गौतमी—महाराज को यह समाचार भेजा या नहीं?

एक सखी—हाँ, कहलवा तो दिया है, महाराज स्वयं पधार रहे हैं! महारानीजी, नगर में सब ओर हर्ष की नदी बह रही है। ऐसा हो रहा है। सुन नहीं रही हो, सब ओर डिड्डिम की ध्वनि सुनाई दे रही है। नागरिकों ने नगर, हाट, बाजार, वीथी सजाने आरम्भ कर दिए हैं। घर-घर मंगलाचार हो रहे हैं।

गौतमी—महाराज ने इस समाचार को सुनकर क्या कहा?

प्रतिहारी—(आगे बढ़कर) महाराज ने जब यह समाचार सुना तो

उन्होंने एकदम अपने गले की माला उतारकर मुझे दे दी और सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। मंत्रियों को बुलवाकर सहस्रों गौओं, स्वर्ण, मोती, माणिक, मुक्ता और अन्न आदि के दान की व्यवस्था की।

गौतमी—राज्य के भाग्योदय का दिन है प्रतिहारी।

(ज्योतिषी, गणक लोग बैठे हुए नवजात बालक के भाग्य का वर्णन कर रहे हैं।)

गौतमी—ज्योतिषी तो रात भर वहीं बैठे रहे हैं, जिससे ठीक-ठीक लग्न का ज्ञान प्राप्त कर सकें। महाराज भी रात भर कहाँ सोये हैं। सच तो यह है, रात भर नगर में जैसे शुभ समाचार की प्रतीक्षा करते-करते उत्सुकता, व्यग्रता लोगों में व्याप्त हो रही हो। देखो, कुछ स्त्रियों को दूसरे कक्ष में बैठा दो। वे निरंतर बधाई गाती रहें। महाराज आ रहे होंगे।

सखियाँ—ठीक है। (सब उठकर चली जाती हैं और वहाँ से गाने का स्वर सुनाई पड़ता है)

आओ री, मिल मंगल गाएँ—
कृष्ण अवतरे हैं यशुदा के—
हम भी मोद बढ़ाएँ।
राम हुए कौशल्या के अलि
निरख नेत्र फल पायें।

[इस प्रकार नेपथ्य से गाने की ध्वनि आती रहती है और रंगमंच पर गोपा के कक्ष से सटे हुए कक्ष में जहाँ से गोपा की छाया सी देख पड़ती है वहाँ प्रसन्न मुख शुद्धोदन, मंत्री, सेनापति, ज्योतिषी, राजपंडित आते हैं। बच्चे को देखकर सब लोग राजा को बधाई प्रसन्नता प्रकट करते हैं।]

शुद्धोदन—(प्रसन्नता से बच्चे को देखकर) आज मेरी आशायें, साध-

नायें, तपस्यायें फलीभूत हुईं। कितनी प्रसन्नता का दिन है !

मंत्री—महाराज, अब आप युवराज की तरफ़ से भी निश्चिन्त रहिये। वे अब सहज ही संसार-त्यागी नहीं हो सकते।

राजपंडित—महाराज, पुत्र-पौत्र सहित चिरायु हों।

(गीत की ध्वनि आ रही है)

अमरपुरी में बजते बाजे सुर मिल सुख से न्हायँ।

शुद्धोदन—सिद्धार्थ कहाँ हैं ?

मंत्री—महाराज वे आपके सामने...।

शुद्धोदन—नहीं, उसे हमारे सामने यहाँ आने की आवश्यकता नहीं है। मंत्री, उसके मन का भाव देखते रहना चाहिये। (वह बच्चा रोने लगता है, स्त्रियाँ दौड़कर जाती दिखाई देती हैं। गीत की ध्वनि आती रहती है, डिड्डिम आदि भी बज रहे हैं। कुछ सेवक भागते, दौड़ते, चुपचाप जाते दिखाई देते हैं)

(सब चले जाते हैं—दो सखियाँ आमने सामने एक दूसरी को देखकर)

पहली सखी—देखा, यह है नारी के सौंदर्य, रूप, यौवन की सफलता।

दूसरी सखी—तुझे तो बड़ी ईर्ष्या हो रही होगी कि तू गोपा से भी बड़ी हो गई पर...

पहली सखी—(उसके मुँह पर हाथ रखकर) चुप !

दूसरी सखी—क्यों ? मैं तो कहूँगी, अन्तर केवल इतना ही है किसी के स्वप्न जाग उठते हैं, किसी के नहीं।

पहली सखी—कोई कली विना फूले ही झड़ जाती है।

दूसरी सखी—जीवन के निर्माण करते समय विधाता का हृदय यदि प्रसन्न हुआ तब उस जीव को उसने भाग्यशाली बना दिया और बस !

पहली सखी—नहीं, ऐसा नहीं है, कर्तव्य की चिल्लाहट में मंत्र की तरह काम करनेवाले विधाता ने किसी को ठीक बनाया और किसी को थके हुए हाथों से विना भाग्य के छोड़ दिया, हम उन लोगों में से हैं।

दूसरी सखी—रूप और सौंदर्य, यौवन और लालसा बाँटते समय भी वृद्ध विधाता से प्रमाद हो ही जाता रहा होगा। आओ चलें, गौतमी माँ के शब्द सुनाई दे रहे हैं।

पहली सखी—विवेकहीन विधाता को इतना अवकाश कहाँ कि लालसा देकर उनकी पूर्ति का साधन भी देता। चलो। (दोनों चली जाती हैं।)

(दो कंचुकियों का प्रवेश)

पहला—क्या हम लोग वैल के गले के लटकते मांस की तरह निरर्थक नहीं हैं ? न यौवन, न लालसा और न उसकी पूर्ति।

दूसरा—सर्वथा वोलनेवाला एक यंत्र हो मानो। भला हम लोगों में किस बात की कमी है ?

पहला—वह तुम नहीं जान सकते जीवनहीन प्राणी ? तुममें हृदय है पर गति नहीं, मन है पर उल्लास नहीं, जीवन है पर कामना नहीं, यौवन है पर उद्वेग नहीं।

दूसरा—न हम लोग मनुष्य हैं, न स्त्री, क्यों न ?

पहला—ठूँठ की तरह निर्जीव, कंकाल की तरह निःशक्त, विधाता के अभिशाप।

दूसरा—हम लोग जीवन की जरा हैं। न जाने हमारे निर्माण का क्या अर्थ है ?

पहला—यही जो हम कर रहे हैं। प्राणहीन प्राणी। आओ चलें

कदाचित् युवराज आ रहे हैं। वे देखो आ ही रहे हैं। हाँ चलो। (चले जाते हैं)

(सिद्धार्थ देवदत्त के साथ)

सिद्धार्थ—मेरे ज्ञान-चिन्तन का स्रोत इस जगह आकर टूट गया है देवदत्त ! कितना वीभत्स है यह कांड ?

देवदत्त—गृहस्थ के जीवन की सार्थकता सृष्टि को आगे बढ़ाना है। आपने भी वही किया, जो संसार करता आ रहा है।

सिद्धार्थ—फिर मुझमें और साधारण गृहस्थी में क्या अन्तर हुआ ! वासना की दासता लालसा का उभार लेकर मैं भी उसी नरक में कूद पड़ा, जहाँ मनुष्य का विवेक धुलकर मैला हो जाता है। यही सोचता हूँ।

देवदत्त—बच्चे को देखा युवराज !

सिद्धार्थ—अपने पाप को देखूँगा देवदत्त !

देवदत्त—तुम भूलते हो युवराज, वह पाप नहीं, गृहस्थ के कर्तव्य का चरम विकास है। पुण्य स्रोतस्विनी सृष्टि का स्वाभाविक आलोक है !

सिद्धार्थ—परन्तु मेरे मार्ग का विघ्न है। पुत्रोत्पत्ति काल से ही मुझमें तीव्र वैराग्य का उदय हो रहा है। जैसे कोई शक्ति मुझे खींचे लिये चली जा रही है। मैं अब नहीं रुक सकता ! मुझे जाना होगा। मैंने एक व्याधि और बढ़ाई है, उसका निराकरण करना होगा।

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी—युवराज, माता गौतमी आपसे मिलना चाहती हैं।

सिद्धार्थ—हाँ, पहले पिता ने बुला भेजा था किन्तु मैं उस समय स्वस्थ न था। चलो देवदत्त!

देवदत्त—हाँ चलिये। किन्तु...।

सिद्धार्थ—किन्तु क्या...?

देवदत्त—किन्तु कुछ नहीं, न मालूम क्या कहना चाहता था भूल गया!

सिद्धार्थ—यही न, कि यह जीवन की विजय है!

देवदत्त—हाँ, यह भी और वह भी!

सिद्धार्थ—जरा, जन्म, मृत्यु तीनों ही भयंकर हैं।

(चले जाते हैं)

चौथा दृश्य

रात का समय

[गोपा अपने नवजात शिशु के साथ पर्यंक पर बैठी है। पास ही सखियाँ बैठी हैं। गायन-वाद्य सजे हुए रखे हैं। पुष्पों के स्तवक सुगन्धि दे रहे हैं। धूप-बत्तियाँ कमरे को सुगन्धि से भर रही हैं। सुन्दर शृंगार से सुसज्जित गोपा बार-बार सोते हुए शिशु के मुख को निहार रही है। परिचारिकाएँ पंखा झल रही हैं।]

चारुनेत्रा—(शिशु को देखकर) कितना सुन्दर बालक है, मानों युवराज सिकुड़-सिमट कर सौन्दर्य के अवतार होकर तुम्हारी गोद में आ गये हों।

सुकेशी—दुर पगली! यों कह देवी गोपा और युवराज की आशाएँ मूर्ति धारण करके आ गई हों।

गोपा—(शिशु को ध्यान से देखकर पुलकित होती हुई मुसकरा देती हैं) हाँ, कल्पना करो। सुकेशी, तुम तो कवि हो। बनाओ न कोई गीत।

चारुनेत्रा—कवि होने से क्या होता है प्रेरणा भी तो चाहिए। यदि कहीं अपने होता तो एक क्या दस गीत अब तक बन जाते।

सुकेशी—यह क्या मेरा नहीं है। और मैं किसकी हूँ ?

चारुनेत्रा—कौन ?

गोपा—अनुभूति होनी चाहिये सखी !

सुकेशी—वह तो केवल गोपा देवी को ही हो सकी है।

चारुनेत्रा—हाँ, ईर्ष्या से मेघों में प्रेरणा की विद्युत् छिप गई है।

सुकेशी—किन्तु तुम्हारे इन नयनों के महाकाश में कितनी प्रणय-तारिकाएँ जगमगा रही हैं? यह तुम्हारे सिवा कौन जान सकता है सखी ! एक चन्द्रमा उदय होने वाला था वह न जाने किसके अभिशाप की अमावस लेकर छिप गया है। मैं तो कहूँगी तुम्हारा नामकरण चारुनेत्रा रखनेवाले माता पिता ने तुम्हारे शैशव में ही अवश्य भविष्य को कूत लिया होगा।

गोपा—यह कवि हृदय के उद्गार हैं चारुनेत्रा, अब तुम पार न पा सकोगी।

चारुनेत्रा—जिन मेघों की लटों में विद्युत, जिन नारियों के केशों में नाग, जिन प्रणय के उच्छ्वासों में धूम, जिस रजनी के विलास में तिमिर हो, उन सबकी स्निग्ध छाया लेकर जिस नारी का निर्माण हुआ हो वह यदि वरदान के बदले जीवन को यौवन की कचोटन बाँटे, लालसा के बदले अतृप्ति

बिखरावे तो वहाँ सुकेशी रानी के उल्लसित अट्टहास के साथ नुकीले नयन बाणों का युद्ध ही हो रहा है, ऐसा कहना चाहिए।

सुकेशी—(हँसकर) उस युद्ध की प्रथमाहुति कलिका की सुगन्धि पर मर मिटने वाली रसभरिता तितली की हुई, जिसकी आशाएँ कुसुम ने म्लान होकर बुझा दीं। अस्तु, जीवन की चरम साधना यह सन्तति है, जो हमारे भाग्य की तरह इन प्रासादों में चमक उठी है गोपा देवी !

चारुनेत्रा—(आँखें खोले शिशु को देखकर) यह बेचारा क्या जाने संसार कितना कटु है, कितना मीठा ?

सुकेशी—(बालक को गोद में उठाकर) जीवन से सुन्दर, शैशव से भोले, रजनी से शान्त इन बालकों में मानों ईश्वर की महिमा मूर्त होकर आ गई हो।

गोपा—तुम्हारी उपमाएँ तो अद्भुत होती हैं सुकेशी !

चारुनेत्रा—अमृत सी मीठी।

सुकेशी—अमृत भी तो कवि-कल्पना है। (बालक रोता है। सुकेशी हिला-हिला कर गाती है। चारुनेत्रा वीणा बजाती है।)

लौरी

सो जा सो जा राजदुलारे, सो जा सो जा ।

उल्लास विकल,

दीपक के बल,

तेरे स्मय से हो मुद विह्वल;

भर छवि ज्योत्स्ना का अंगराग;

जलता सपनों के पी पराग;

तू अमर परी की गोदी का शृंगार सलोना हो जा।

उजले, उजले,

प्रणिपात पले,

प्रियतम के पथ दिन रात चले,

कुसुमों का लेकर लघु विलास,

तजता ग्रीष्माकुल समुच्छ्वास,

आ, मुक्त हास से जलन दीप की

मंजुल मंजुल धो जा।

सो जा सो जा राजदुलारे, सो जा सो जा।

(शिशु गीत सुन कर सोता सा दिखाई देता है, गोपा भी कुछ निद्रित सी देख पड़ती है, सखियाँ, परिचारिकाएँ हट जाती हैं। कुछ निद्रा का सा साम्राज्य छा जाता है। इसी बीच में सिद्धार्थ प्रवेश करते हैं। केवल माता और शिशु के श्वासोच्छ्वास सुनाई देते हैं।)

सिद्धार्थ—यही अवसर है। यौवन सो रहा है, मातृत्व निद्रित है। शैशव जीवन के प्रथम प्रभात की वारुणी पीकर असंज्ञ है। यही अवसर है। गोपा, तुम कितनी सुन्दर हो, किन्तु तुम्हारी यह सुन्दरता मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं प्राणी मात्र के जीवन सौन्दर्य के अक्षय पथ की खोज करूँ। अमृत में विष की गाँठ की तरह फैली हुई जरा, व्याधि, मृत्यु का उपाय ढूँढूँ। जैसे मेरे हृदय में बार-बार कोई कह रहा है कि यही अवसर है। गोपा से तुमने विवाह किया उसका फल उसे प्राप्त हो गया, यही अवसर है।

(एक छायाचित्र)

छायाचित्र—नहीं, यौवन के लबालब चषक को छोड़कर जाना

प्रमाद है, हाथ में आये हुए अमृत को ठुकराकर अदृश्य के लिए यत्न करना मूर्खता है।

सिद्धार्थ—नहीं, यह सब स्थायी नहीं है, यह मृगमरीचिका है, छल है, भ्रान्ति है। मुझे जाना ही होगा। यह देखो, मैं देख रहा हूँ, गोपा के बाल श्वेत हो गए हैं, उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं। उसके भीतर एक कंकाल झाँक रहा है। ठहरो, ठहरो (फिर देखते हैं। गोपा स्वप्न में हँस रही है)।

छायाचित्र—सिद्धार्थ, एक बार फिर सोचकर देखो, यह तुम्हारा बड़ा अन्याय होगा कि तुम सती, साध्वी, पतिव्रता गोपा को असहाय छोड़कर सदा के लिए रोने का उपहार देकर चले जाओगे। उसने विवाह करके क्या सुख पाया ? क्या, एक पुत्र उसे दे देने से तुम गृहस्थ के कर्तव्य से छुटकारा पा गये ! नहीं, ऐसा नहीं है। इस संसार में सुख दुख सभी हैं किन्तु उनसे डर कर संसार तो कोई नहीं छोड़ देता ! क्या यह तुम्हारी कायरता नहीं है। देखो, देखो, गोपा स्वप्न में तुम्हें पाकर हँसती हुई बाहु पसार रही है तुम्हारा आलिंगन करने को। ऐसा न करो सिद्धार्थ !

सिद्धार्थ—नहीं, एक गोपा के लिये संसार के दुःख, व्याधि के मूल कारण की खोज से विरत रहना प्रमाद है। सिद्धार्थ का जीवन साधारण गृहस्थ का जीवन नहीं है। (देखते हैं, सिद्धार्थ के बीसियों रूप उनके सामने आकर खड़े हो गए हैं, जिनमें वे एक दूसरे से उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होते चले गये हैं और अंतिम रूप में सिद्धार्थ परिपक्व ज्ञानी की तरह केवल विवेक का दीपक जलाए संसारत्यागी के रूप में खड़े हैं।) नहीं, यही अवसर है।

छायाचित्र—और पिता, बूढ़े पिता जिन्होंने एक ही दीपक जलाया कि पुत्र राज्याधिकारी होकर मेरे उत्सव का कारण होगा। जिन्होंने आशा का संसार लेकर एकमात्र पुत्र का पालन किया, विवाह किया वे !

सिद्धार्थ—मुझे उनका दुख भी तो दूर करना है। मातृऋण, पितृऋण, जातिऋण चुकाने का यही अवसर है। मुझे कोई शक्ति मेरे ध्येय से नहीं हटा सकती। मैं जाऊँगा।

छायाचित्र—अच्छा जाओ, विश्व का कल्याण तुम्हारे हाथ में है। जाओ, तुम्हारा मार्ग शुभ हो।

सिद्धार्थ—यह क्या था ? कौन था यह। कोई भी तो नहीं। कोई कुछ भी नहीं है।

(चले जाते हैं)

पाँचवाँ दृश्य

शुद्धोदन का शयनागार

[शुद्धोदन, गौतमी, मंत्री तथा कुछ अन्य कर्मचारी बैठे हैं।]

शुद्धोदन—(प्रसन्नता से) कभी-कभी भ्रम से बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। तिनके का पहाड़ इसी को कहते हैं। मैं समझता था कि युवराज कहीं साधु न हो जायँ, वह अनर्थकारी भ्रम आज दूर हो गया।

गौतमी—मुझे तो विश्वास है महाराज, कि राजकुमार के सम्बन्ध में वैसी धारणा ही असत्य थी। मैं कहती न थी कि विवाह मनुष्य को बाँधकर रखने की सबसे मुख्य शृंखला है। इसमें

मनुष्य सब भूल जाता है। यह जीवन का सबसे बड़ा योग है।

मंत्री—किन्तु विरक्ति का कारण भी हो सकता है। मुझे तो राजकुमार में कोई परिवर्तन नहीं देख पड़ता। वे आदमी वैसे ही शान्त, गम्भीर, मौन आकृति धारण किये रहते हैं।

शुद्धोदन—नहीं, यह तुम्हारा भ्रम है।

मंत्री—मैं चाहता हूँ, यह मेरा भ्रम ही सिद्ध हो।

गौतमी—मंत्री, बालक का मुँह देखकर कौन तपस्वी है, जो गृहस्थ न बन जायगा। कौन साधु है जो बँध न जायगा। नारी जीवन का बड़ा आकर्षण है। गोपा संसार की श्रेष्ठ नारीरत्न है, उसे पाकर सिद्धार्थ की सब आशाएँ उसमें केन्द्रित हो गई हैं। वह अब जा नहीं सकता। भौंरा कुसुम की सुगन्धि को छोड़ नहीं सकता।

शुद्धोदन—यह घनश्यामल मेघ विद्युत् को कब छोड़ सकता है, जो एक बार नहीं शत बार उसके हृदय को चीरती रहती है। उसे पाकर वह कभी वियोगी नहीं होता मंत्रिन्!

मंत्री—भगवान् करे पुत्रोत्पत्ति का यह उत्सव राजकुमार को गृहस्थ के जीवन में सदा के लिए बाँधे रखे।

शुद्धोदन—हाँ, मुझे विश्वास है गोपा का प्रेम, बालक का जन्म सिद्धार्थ के विचारों को बदल देने में समर्थ होंगे। देखो, मैं बालक की उत्पत्ति के दसवें दिन राज्य भर में एक महान् उत्सव करना चाहता हूँ। उसकी तैयारी होनी चाहिए मंत्रिन्!

मंत्री—जो आज्ञा, प्रजा भी चाहती है कि ऐसा उत्सव हो।

शुद्धोदन—इस समय तुम्हें कष्ट देने का यही कारण है कि हम लोग

बैठकर उत्सव की रूपरेखा बनाएँ। नगर भर में उस दिन ब्राह्मणों को भोजन, वस्त्र और यथेष्ट दक्षिणा दी जाय। दरिद्रों, कंगालों को वस्त्र भोजन बाँटे जायँ। राज-कर्मचारियों को दो-दो मास का वेतन अधिक दिया जाय। सब राज्य सभासदों को राज्यकोष से वस्त्र तथा अस्त्र भेंट किये जायँ। स्थान-स्थान पर यज्ञ हों। स्थान-स्थान पर दूध की प्रपायें (प्याऊ) खोल दी जायँ।

मंत्री—ऐसा ही होगा महाराज !

शुद्धोदन—उस दिन विशेष उत्सव का आयोजन हो। राज-कवि बालक राहुल की प्रशंसा में कविताएँ पढ़ें। शास्त्रार्थ हो। रात्रि के समय नृत्य, गीत, वादित्र की आयोजना हो।

गौतमी—अवश्य !

मंत्री—जैसी आज्ञा।

शुद्धोदन—बस, यही मुझे कहना है। रात अधिक हो गई है। आप लोग जाइये। (गौतमी से) परिचारिकाओं को एक-एक स्वर्णहार दिया जाय। सुकेशी को रत्नहार।

गौतमी—जी। (सब चले जाते हैं। शुद्धोदन शय्या पर लेट जाते हैं। दीपक का प्रकाश मंद हो जाता है। शुद्धोदन सो जाते हैं।)

(सिद्धार्थ का प्रवेश)

सिद्धार्थ—(धीरे से) सो रहे हैं पिता (एक तरफ़ खड़े हो जाते हैं। देखते रहते हैं) जाना ही होगा। समुद्र से विशाल स्नेह को हमने नदी, नालों, स्रोतों, प्रपातों में बाँधकर छोटा कर दिया है, उसे फिर समुद्र बना देना होगा। विश्व की महान् कल्याण भावना को असीम बनाना होगा।

शुद्धोदन—(स्वप्न में बड़बड़ाते हुए) नहीं, अब वह संभव नहीं है। सिद्धार्थ मेरा है उसे कोई छीन नहीं सकता। कितना सुन्दर बालक है। मंत्री, अन्नकोश खुलवा दो। राज्य में कोई दरिद्री न रहे। (हँसते हैं) जाओ मंत्री जाओ। बेटा, सिद्धार्थ आज प्रजाजन कितना उत्सव मना रहे हैं। जाओ देखो। अपने दर्शन से उन्हें कृतकृत्य कर दो बेटा। जाओ। छंदक, युवराज का रथ तैयार करो।

सिद्धार्थ—हमारे मनोरथों का आकाश कितना सीमित है। जाता हूँ। प्रणाम पिता ! (चलने लगते हैं)

छायाचित्र—ठहरो, पिता को, पत्नी को, सद्यःजात बालक को इस तरह छोड़कर जाना क्या तुम्हारे जैसे वीर को शोभा देता है। तनिक देखो, यह वैभव, यह आनंद, यह उल्लास कहाँ मिलेगा ?

सिद्धार्थ—कौन ? (लौटकर देखते हैं। कोई नहीं है) यह सब अस्थायी है नश्वर है। मुझे अनश्वर की खोज में जाना होगा। जाऊँगा। पिता, पुत्र, स्त्री मुझे कोई भी नहीं रोक सकते।

छायाचित्र—अच्छा, एक बात सुनो, तुम्हें कौन सा दुख है ? न तो तुम रोगी हो, न वृद्ध, न मृत्यु ही तुम्हारे सामने है। यह जीवन विशाल है, जब वह समय आवे तब सोचना। अभी तो यौवन का उपभोग करो। यौवन जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। सौन्दर्य यौवन का राशि राशि उल्लास ! क्या यह सब कुछ भी नहीं है ? नहीं, यही जीवन है।

सिद्धार्थ—यह कौन है, क्या है ? यह मेरा असामर्थ्य जो बार-बार मुझे रोक रहा है। मैं नहीं रुकूँगा। देखो, देखो, मैं सहस्रों

नर-नारियों की दुखी पुकार, व्यथा से डूबे हुये श्वासोच्छ्वास के मेघों को चारों ओर घुमड़ते देख रहा हूँ। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सुख से सने हुए दुख के नग्न कंकालों को खिल-खिलाते देख रहा हूँ। उनके रोने, क्रन्दन, पीड़ा से मेरा हृदय फटा जा रहा है। मैं रुक नहीं सकता।

छायाचित्र—वह राजनर्तकी का नृत्य, सुकेशी का गीत, गोपा का आकर्षण यौवन, गौतमी का वात्सल्य प्रेम सभी कुछ छोड़-कर चले जाओगे!

सिद्धार्थ—हाँ, सभी छोड़कर जाना होगा। जाना ही होगा। रात के सुनसान में कोई पुकार रहा है चलो। जलघड़ी बूँद बूँद जल भरकर कह रही है चलो, चलो। तारिकाएँ जैसे हँस-हँसकर मुझे बुला रही हैं। काल के श्वास-प्रश्वास से एक ही ध्वनि उठ रही है, यही अवसर है। यही अवसर है। 'भूत' मुझे देख रहा है। वर्तमान कह रहा है चलो: भविष्य कह रहा है आओ। मैं जाऊँगा।

(एकदम चले जाते हैं)

शुद्धोदन—(उसी अवस्था में) कितना सुन्दर, सुखद, स्निग्ध प्रभात होगा आज। क्या कहते हो कल्याणि। हाँ, कल्याण ही तो। कल्याण। पिता का कल्याण, पुत्र का कल्याण, स्त्री का कल्याण। मंत्री, अन्नकोश खुलवा दो। मेरे राज्य में कोई भूखा न रहे। हा हा हा हा! रत्नहार बाँटो, स्वर्णहार वितीर्ण करो। यज्ञ, दान, तप, पूजा पाठ की व्यवस्था करो। मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। (एकदम प्रसन्नता के मारे आँखें खुल जाती हैं। देखते हैं, सबेरा हो रहा है। उषा का प्रकाश उग रहा है) प्रभात हो गया। यह चुप-

चाप क्यों ? वन्दीजन क्यों नहीं गा रहे हैं ? (ताली बजाकर) कोई है । (परिचारिका आती है) क्या बात है ?

परिचारिका—महाराज ।

शुद्धोदन—बोल, क्या वात है ?

परिचारिका—युवराज प्रासाद में नहीं हैं ।

शुद्धोदन—(उछलकर) कहाँ हैं, कहाँ गये ?

परिचारिका—चले गये । सब कुछ छोड़कर चले गये । छंदक भी नहीं है ?

शुद्धोदन—वही, फिर वही । गये (मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं)

छठा दृश्य

समय प्रातःकाल

[गोपा पर्यंक से उठ कर देखती है, युवराज की शय्या रिक्त है । अपने वस्त्रों को सँभालती हुई बालक की ओर देखने लगती है । वह सो रहा है । सोता हुआ कभी हँसता है, कभी चौंक पड़ता है । गोपा उसे एकदम गोद में लेकर प्यार करने लगती है । मुँह चूम लेती है । फिर सुला देती है । पास ही वीणा लेकर गाने लगती है ।]

गोपा— जागो राजदुलारे ।

समय बिखेरती, अचल हेरती,
खिला खिला कलि, हँसा हँसा अलि,
धीरे धीरे, मंद समीरे,
आती ऊषा, ले मंजूषा,
गीतों के तव द्वारे—जागो राजदुलारे ।

बीते तारे, कहीं किनारे,
विगत निशापति, मुदित दिवसपति,
नव आशाएँ, नव भाषाएँ,
जीवन जीवन, शैशव यौवन,
तुम्हें जगाते आ, रे—जागो राजदुलारे।
छलक छलककर, ललक ललककर,
निकल आँख से, नई पाँख से,
धीरे आते, रस भर जाते,
प्यार भिगोए, सपने सोए,
तेरे समय पर वारे—जागो राजदुलारे।

प्राणनाथ, अभी नहीं आए ? (ताली बजाती है। एक परिचारिका आकर उपस्थित हो जाती है) देखो, आज प्रातः से युवराज कहाँ हैं ! आज सवेरे मैं उनके चरणों के दर्शन न कर सकी।

परिचारिका—ज्ञात तो मुझे भी कुछ नहीं है, देवी। संभव है महाराज ने उन्हें बुलाया हो। नगर भर में बधाइयाँ बज रही हैं। द्वार-द्वार पर वंदनवार बँधी है। घर-घर में मंगलाचार हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न है। महाराज तो इतने आनन्दित हैं कि पिछले सप्ताह से उन्होंने कोश का मुख खोल दिया है। कोई याचक इच्छावस्तु लिये बिना नहीं लौटा। आः कितने आनन्द का समय है।

गोपा—किन्तु प्राणनाथ इतने सवेरे ही क्यों चले गये ? रात तो मैं स्वप्न देखकर डर ही गई थी। न जाने कैसा स्वप्न था वह।

(इस समय सब चुप क्यों हैं)

परिचारिका—स्वप्न का अर्थ ही असत्य है, मिथ्या है, भ्रान्ति है।

गोपा—सुकेशी कहाँ है ?

परिचारिका—अभी तो आई नहीं। बुलाऊँ क्या ?

गोपा—रहने दे, जी उदास हो रहा है। रह-रहकर जैसे कोई कचोट रहा है। इस बालक को देखकर हृदय को धीरज दे रही थी। कैसा मुख है बिलकुल उनकी आकृति हो जैसे।

परिचारिका—महारानी गौतमी ने नगरवासिनियों का देखना बन्द कर दिया है अन्यथा नगर की कोई स्त्री ऐसी न थी जो दर्शन न करना चाहती हो। जिन्होंने देखा है वे कहते हैं कि बालक दूसरे राजकुमार हैं। मैं तो मूर्ख हूँ पर इतना जानती हूँ, ऐसा सुन्दर बालक मैंने अपने जीवन में कोई नहीं देखा। भगवान् इसको आयु दें।

गोपा—सुकेशी भी नहीं आ रही है और सखियाँ भी न जाने क्या हुईं। सब ओर सुनसान देख पड़ता है। देख तो क्या बात है ? जरा शीघ्र देख, मेरा जी न जाने आर्यपुत्र के लिए क्यों इतना व्यग्र हो रहा है ? यह कौन आ रहा है ?

परिचारिका—देवी गौतमी।

(गौतमी चुपचाप आकर बालक को देखती है और सिद्धार्थ की शय्या पर पछाड़ खाकर गिर जाती हैं। गोपा घबराकर उठती है पर परिचारिका उठने से रोक लेती है। दो परिचारिकाएँ भी मूक होकर रानी की परिचर्या में लग जाती हैं।)

गोपा—क्या बात है, कोई बोलता क्यों नहीं। बताओ, शीघ्र बताओ मेरे जीवननाथ कहाँ हैं ? बोलो, कोई बोलो। यह सब कैसा सुनसान है। अंतःपुर के बाहर शहनाई बन्द हो गई है। सब लोग मूक क्यों हो गये हो ?

गौतमी—(संज्ञा प्राप्त करके) बेटी !

गोपा—माता जी, यह सब क्या है ? कोई बोलता ही नहीं है। जैसे वाणी मूक हो गई हो।

गौतमी—बेटा सिद्धार्थ, न जाने तुमने कब की शत्रुता निकाली।

गोपा—(चिल्लाकर) माता शीघ्र बताइये। मेरे प्राण मुँह को आ रहे हैं। क्या हुआ आर्यपुत्र को ?

एक परिचारिका—वे वन को चले गये।

गोपा—क्या कहा वन को ! हमको छोड़कर (एकदम पर्यंक पर गिर पड़ती है।)

दूसरी परिचारिका—देवी मूर्छित हो गई हैं माता जी ! (उपचार को दौड़ती है।)

गौतमी—जीवन में अब रह ही क्या गया है? एक आशा थी, वह भी बुझ गई, एक विश्वास था, वह भी उड़ गया। एक स्वप्न था, वह भी भंग हो गया। युवराज नहीं लौट सकते। वे वन को गये माँ को निरवलंब करके, पिता का हृदय कुचल कर, देवी गोपा को अनाथ करके। हाय ! अब यह किसके सहारे जियेगी। (मूर्छित हो जाती है।)

(गोपा संज्ञा प्राप्त करके एकदम मूक हो जाती है। आँखें फाड़ फाड़ कर देखती है। देखती रह जाती है। मौन मूक, निश्चल, जड़, स्पंदनहीन-जैसे सब कुछ इस नारी का चित्र बन गया हो। आँखों में प्रकाश है जैसी देखती कुछ भी नहीं है। इन्द्रियाँ जैसे स्थिर हो गई हैं। लोग घबरा जाते हैं। दौड़ धूप होती है। परिचारिकाएँ इधर-उधर दौड़ती हैं।)

एक परिचारिका—अनर्थ हो रहा है। महाराज उधर अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं। सुकेशी ने जब से सुना कि युवराज वन को

चले गये हैं, तब से वह बेचारी कई बार मूर्छित हो चुकी है। जैसे उसका सर्वस्व छिन गया हो। नगर भर पागल हो गया है। कुछ जंगल की ओर दौड़े जा रहे हैं। वे कहते हैं—'हम युवराज को मनाकर लायेंगे।' सारे नगर में इस समाचार ने नागरिकों को जड़ स्तब्ध बना दिया है। किन्तु देवी गोपा को क्या हो गया है। न कुछ बोलती हैं, न रोती हैं।

दूसरी परिचारिका—देवी को घोर कष्ट है। अत्यन्त कष्ट में मनुष्य की यही अवस्था होती है। देवी, देवी।

पहली परिचारिका—देवी, रानी जी देखिये, देवी की क्या दशा हो गई है। न बोलती हैं, न हिलती-डुलती हैं। (गौतमी डरती हुई सी गोपा के पास आकर उसे हिलाती डुलाती हैं, उसे पुकारती हैं पर गोपा चुप है।)

गौतमी—महाराज को बुलाओ। (परिचारिका दौड़ी जाती है) गोपा गोपा, गोपा। सुनो, देखो, महाराज की क्या दशा हो गई है। (शुद्धोदन विक्षिप्त अवस्था में आते हैं) महाराज, देवी की रक्षा कीजिए।

शुद्धोदन—वही हुआ जिसके लिये मैं डर रहा था। सब उपाय व्यर्थ हुये। सारी चेष्टायें निष्फल हुईं। ओः कितना सुन्दर मुख है। मैं कुछ नहीं कर सकता। (बालक की ओर देखकर) जीवन की संध्या में तुम शुक्र की तरह उत्पन्न हुए। किन्तु भविष्य के मेघों ने तुम्हें आच्छन्न कर लिया। अमावस है, घोर अमावस। इसका प्रातःकाल नहीं है। अनंत रात्रि। गोपा, बेटी गोपा। घबराओ मत, युवराज लौटेंगे।

गोपा—(चुप)

गौतमी—बेटी गोपा। देखो !

शुद्धोदन—बेटी गोपा।

गौतमी—गोपा।

गोपा—(चुप)

गौतमी—ज्ञात होता है यह राजकुमार के वियोग में प्राण दे देगी।

शुद्धोदन—मुझे कुछ नहीं सूझता। मैं अन्धा हो गया हूँ गौतमी। गोपा ! (परिचारिका दौड़कर बच्चे को रुला देती है और गोपा की गोद में डाल देती है। बालक जोर जोर से रोता है। गोपा धीरे धीरे संज्ञा प्राप्त करके बालक की ओर देखती है और रोने लगती है) बस, अब ठीक है। ठीक है। आजीवन रोने के लिये इसका जीना आवश्यक है। रो, रो। तू भी रो, मैं भी रोऊँ। संसार रोवे। आओ इतना रोवें कि राजकुमार तप करते हुए बह-कर हमारे पास आ जावें।

मंत्री—महाराज, अधीर न हों, सिद्धार्थ साधारण व्यक्ति नहीं हैं। वे संसार का दुख दूर करने आये हैं।

शुद्धोदन—हाँ मंत्री, वे हमारे नहीं हैं, वे संसार के हैं। किन्तु मेरा विश्वास है, एक दिन वे लौटेंगे अवश्य। मैं उसी दिन की प्रतीक्षा करूँगा। निर्निमेष पलक खोलकर आँखें, फैलाए।

(पर्दा गिरता है)

सिद्धार्थ—हाँ, पहले पिता ने बुला भेजा था किन्तु मैं उस समय स्वस्थ न था। चलो देवदत्त !

देवदत्त—हाँ चलिये। किन्तु...।

सिद्धार्थ—किन्तु क्या... ?

देवदत्त—किन्तु कुछ नहीं, न मालूम क्या कहना चाहता था भूल गया !

सिद्धार्थ—यही न, कि यह जीवन की विजय है !

देवदत्त—हाँ, यह भी और वह भी !

सिद्धार्थ—जरा, जन्म, मृत्यु तीनों ही भयंकर हैं।

(चले जाते हैं)

चौथा दृश्य

रात का समय

[गोपा अपने नवजात शिशु के साथ पर्यंक पर बैठी है। पास ही सखियाँ बैठी हैं। गायन-वाद्य सजे हुए रखे हैं। पुष्पों के स्तवक सुगन्धि दे रहे हैं। धूप-बत्तियाँ कमरे को सुगन्धि से भर रही हैं। सुन्दर शृंगार से सुसज्जित गोपा बार-बार सोते हुए शिशु के मुख को निहार रही है। परिचारिकाएँ पंखा झल रही हैं।]

चारुनेत्रा—(शिशु को देखकर) कितना सुन्दर बालक है, मानों युवराज सिकुड़-सिमट कर सौन्दर्य के अवतार होकर तुम्हारी गोद में आ गये हों।

सुकेशी—दुर पगली ! यों कह देवी गोपा और युवराज की आशाएँ मूर्ति धारण करके आ गई हों।

गोपा—(शिशु को ध्यान से देखकर पुलकित होती हुई मुसकरा देती हैं) हाँ, कल्पना करो। सुकेशी, तुम तो कवि हो। बनाओ न कोई गीत।

चारुनेत्रा—कवि होने से क्या होता है प्रेरणा भी तो चाहिए। यदि कहीं अपने होता तो एक क्या दस गीत अब तक बन जाते।

सुकेशी—यह क्या मेरा नहीं है। और मैं किसकी हूँ ?

चारुनेत्रा—कौन ?

गोपा—अनुभूति होनी चाहिये सखी !

सुकेशी—वह तो केवल गोपा देवी को ही हो सकी है।

चारुनेत्रा—हाँ, ईर्ष्या से मेघों में प्रेरणा की विद्युत् छिप गई है।

सुकेशी—किन्तु तुम्हारे इन नयनों के महाकाश में कितनी प्रणय-तारिकाएँ जगमगा रही हैं ? यह तुम्हारे सिवा कौन जान सकता है सखी ! एक चन्द्रमा उदय होने वाला था वह न जाने किसके अभिशाप की अमावस लेकर छिप गया है। मैं तो कहूँगी तुम्हारा नामकरण चारुनेत्रा रखनेवाले माता पिता ने तुम्हारे शैशव में ही अवश्य भविष्य को कूत लिया होगा।

गोपा—यह कवि हृदय के उद्गार हैं चारुनेत्रा, अब तुम पार न पा सकोगी।

चारुनेत्रा—जिन मेघों की लटों में विद्युत, जिन नारियों के केशों में नाग, जिन प्रणय के उच्छ्वासों में धूम, जिस रजनी के विलास में तिमिर हो, उन सबकी स्निग्ध छाया लेकर जिस नारी का निर्माण हुआ हो वह यदि वरदान के बदले जीवन को यौवन की कचोटन बाँटे, लालसा के बदले अतृप्ति

बिखरावे तो वहाँ सुकेशी रानी के उल्लसित अट्टहास के साथ नुकीले नयन बाणों का युद्ध ही हो रहा है, ऐसा कहना चाहिए।

सुकेशी—(हँसकर) उस युद्ध की प्रथमाहुति कलिका की सुगन्धि पर मर मिटने वाली रसभरिता तितली की हुई, जिसकी आशाएँ कुसुम ने म्लान होकर बुझा दीं। अस्तु, जीवन की चरम साधना यह सन्तति है, जो हमारे भाग्य की तरह इन प्रासादों में चमक उठी है गोपा देवी !

चारुनेत्रा—(आँखें खोले शिशु को देखकर) यह बेचारा क्या जाने संसार कितना कटु है, कितना मीठा ?

सुकेशी—(बालक को गोद में उठाकर) जीवन से सुन्दर, शैशव से भोले, रजनी से शान्त इन बालकों में मानों ईश्वर की महिमा मूर्त होकर आ गई हो।

गोपा—तुम्हारी उपमाएँ तो अद्भुत होती हैं सुकेशी !

चारुनेत्रा—अमृत सी मीठी।

सुकेशी—अमृत भी तो कवि-कल्पना है। (बालक रोता है। सुकेशी हिला-हिला कर गाती है। चारुनेत्रा वीणा बजाती है।)

लौरी

सो जा सो जा राजदुलारे, सो जा सो जा।

उल्लास विकल,

दीपक के बल,

तेरे स्मय से हो मुद विह्वल;

भर छवि ज्योत्स्ना का अंगराग;

जलता सपनों के पी पराग;

तू अमर परी की गोदी का शृंगार सलोना हो जा।

उजले, उजले,

प्रणिपात पले,

प्रियतम के पथ दिन रात चले,

कुसुमों का लेकर लघु विलास,

तजता ग्रीष्माकुल समुच्छ्वास,

आ, मुक्त हास से जलन दीप की

मंजुल मंजुल धो जा।

सो जा सो जा राजदुलारे, सो जा सो जा।

(शिशु गीत सुन कर सोता सा दिखाई देता है, गोपा भी कुछ निद्रित सी देख पड़ती है, सखियाँ, परिचारिकाएँ हट जाती हैं । कुछ निद्रा का सा साम्राज्य छा जाता है । इसी बीच में सिद्धार्थ प्रवेश करते हैं। केवल माता और शिशु के श्वासोच्छ्वास सुनाई देते हैं।)

सिद्धार्थ—यही अवसर है। यौवन सो रहा है, मातृत्व निद्रित है। शैशव जीवन के प्रथम प्रभात की वारुणी पीकर असंज्ञ है। यही अवसर है । गोपा, तुम कितनी सुन्दर हो, किन्तु तुम्हारी यह सुन्दरता मुझे प्रेरित कर रही है कि मैं प्राणी मात्र के जीवन सौन्दर्य के अक्षय पथ की खोज करूँ । अमृत में विष की गाँठ की तरह फैली हुई जरा, व्याधि, मृत्यु का उपाय ढूँढूँ। जैसे मेरे हृदय में बार-बार कोई कह रहा है कि यही अवसर है । गोपा से तुमने विवाह किया उसका फल उसे प्राप्त हो गया, यही अवसर है।

(एक छायाचित्र)

छायाचित्र—नहीं, यौवन के लबालब चषक को छोड़कर जाना

प्रमाद है, हाथ में आये हुए अमृत को ठुकराकर अदृश्य के लिए यत्न करना मूर्खता है।

सिद्धार्थ—नहीं, यह सब स्थायी नहीं है, यह मृगमरीचिका है, छल है, भ्रान्ति है। मुझे जाना ही होगा। यह देखो, मैं देख रहा हूँ, गोपा के बाल श्वेत हो गए हैं, उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं। उसके भीतर एक कंकाल झाँक रहा है। ठहरो, ठहरो (फिर देखते हैं। गोपा स्वप्न में हँस रही है)।

छायाचित्र—सिद्धार्थ, एक बार फिर सोचकर देखो, यह तुम्हारा बड़ा अन्याय होगा कि तुम सती, साध्वी, पतिव्रता गोपा को असहाय छोड़कर सदा के लिए रोने का उपहार देकर चले जाओगे। उसने विवाह करके क्या सुख पाया ? क्या, एक पुत्र उसे दे देने से तुम गृहस्थ के कर्तव्य से छुटकारा पा गये ! नहीं, ऐसा नहीं है। इस संसार में सुख दुख सभी हैं किन्तु उनसे डर कर संसार तो कोई नहीं छोड़ देता ! क्या यह तुम्हारी कायरता नहीं है। देखो, देखो, गोपा स्वप्न में तुम्हें पाकर हँसती हुई बाहु पसार रही है तुम्हारा आलिंगन करने को। ऐसा न करो सिद्धार्थ !

सिद्धार्थ—नहीं, एक गोपा के लिये संसार के दुःख, व्याधि के मूल कारण की खोज से विरत रहना प्रमाद है। सिद्धार्थ का जीवन साधारण गृहस्थ का जीवन नहीं है। (देखते हैं, सिद्धार्थ के बीसियों रूप उनके सामने आकर खड़े हो गए हैं, जिनमें वे एक दूसरे से उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होते चले गये हैं और अंतिम रूप में सिद्धार्थ परिपक्व ज्ञानी की तरह केवल विवेक का दीपक जलाए संसारत्यागी के रूप में खड़े हैं।) नहीं, यही अवसर है।

छायाचित्र—और पिता, बूढ़े पिता जिन्होंने एक ही दीपक जलाया कि पुत्र राज्याधिकारी होकर मेरे उत्सव का कारण होगा। जिन्होंने आशा का संसार लेकर एकमात्र पुत्र का पालन किया, विवाह किया वे !

सिद्धार्थ—मुझे उनका दुख भी तो दूर करना है। मातृऋण, पितृऋण, जातिऋण चुकाने का यही अवसर है। मुझे कोई शक्ति मेरे ध्येय से नहीं हटा सकती। मैं जाऊँगा।

छायाचित्र—अच्छा जाओ, विश्व का कल्याण तुम्हारे हाथ में है। जाओ, तुम्हारा मार्ग शुभ हो।

सिद्धार्थ—यह क्या था ? कौन था यह। कोई भी तो नहीं। कोई कुछ भी नहीं है।

(चले जाते हैं)

पाँचवाँ दृश्य

शुद्धोदन का शयनागार

[शुद्धोदन, गौतमी, मंत्री तथा कुछ अन्य कर्मचारी बैठे हैं।]

शुद्धोदन—(प्रसन्नता से) कभी-कभी भ्रम से बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं। तिनके का पहाड़ इसी को कहते हैं। मैं समझता था कि युवराज कहीं साधु न हो जायँ, वह अनर्थकारी भ्रम आज दूर हो गया।

गौतमी—मुझे तो विश्वास है महाराज, कि राजकुमार के सम्बन्ध में वैसी धारणा ही असत्य थी। मैं कहती न थी कि विवाह मनुष्य को बाँधकर रखने की सबसे मुख्य शृंखला है। इसमें

मनुष्य सब भूल जाता है। यह जीवन का सबसे बड़ा योग है।

मंत्री—किन्तु विरक्ति का कारण भी हो सकता है। मुझे तो राजकुमार में कोई परिवर्तन नहीं देख पड़ता। वे आदमी वैसे ही शान्त, गम्भीर, मौन आकृति धारण किये रहते हैं।

शुद्धोदन—नहीं, यह तुम्हारा भ्रम है।

मंत्री—मैं चाहता हूँ, यह मेरा भ्रम ही सिद्ध हो।

गौतमी—मंत्री, बालक का मुँह देखकर कौन तपस्वी है, जो गृहस्थ न बन जायगा। कौन साधु है जो बँध न जायगा। नारी जीवन का बड़ा आकर्षण है। गोपा संसार की श्रेष्ठ नारीरत्न है, उसे पाकर सिद्धार्थ की सब आशाएँ उसमें केन्द्रित हो गई हैं। वह अब जा नहीं सकता। भौंरा कुसुम की सुगन्धि को छोड़ नहीं सकता।

शुद्धोदन—यह घनश्यामल मेघ विद्युत् को कब छोड़ सकता है, जो एक बार नहीं शत बार उसके हृदय को चीरती रहती है। उसे पाकर वह कभी वियोगी नहीं होता मंत्रिन्!

मंत्री—भगवान् करे पुत्रोत्पत्ति का यह उत्सव राजकुमार को गृहस्थ के जीवन में सदा के लिए बाँधे रखे।

शुद्धोदन—हाँ, मुझे विश्वास है गोपा का प्रेम, बालक का जन्म सिद्धार्थ के विचारों को बदल देने में समर्थ होंगे। देखो, मैं बालक की उत्पत्ति के दसवें दिन राज्य भर में एक महान् उत्सव करना चाहता हूँ। उसकी तैयारी होनी चाहिए मंत्रिन्!

मंत्री—जो आज्ञा, प्रजा भी चाहती है कि ऐसा उत्सव हो।

शुद्धोदन—इस समय तुम्हें कष्ट देने का यही कारण है कि हम लोग

बैठकर उत्सव की रूपरेखा बनाएँ। नगर भर में उस दिन ब्राह्मणों को भोजन, वस्त्र और यथेष्ट दक्षिणा दी जाय। दरिद्रों, कंगालों को वस्त्र भोजन बाँटे जायँ। राज़-कर्मचारियों को दो-दो मास का वेतन अधिक दिया जाय। सब राज्य सभासदों को राज्यकोष से वस्त्र तथा अस्त्र भेंट किये जायँ। स्थान-स्थान पर यज्ञ हों। स्थान-स्थान पर दूध की प्रपायें (प्याऊ) खोल दी जायँ।

मंत्री—ऐसा ही होगा महाराज!

शुद्धोदन—उस दिन विशेष उत्सव का आयोजन हो। राज-कवि बालक राहुल की प्रशंसा में कविताएँ पढ़ें। शास्त्रार्थ हो। रात्रि के समय नृत्य, गीत, वादित्र की आयोजना हो।

गौतमी—अवश्य!

मंत्री—जैसी आज्ञा।

शुद्धोदन—बस, यही मुझे कहना है। रात अधिक हो गई है। आप लोग जाइये। (गौतमी से) परिचारिकाओं को एक-एक स्वर्णहार दिया जाय। सुकेशी को रत्नहार।

गौतमी—जी। (सब चले जाते हैं। शुद्धोदन शय्या पर लेट जाते हैं। दीपक का प्रकाश मंद हो जाता है। शुद्धोदन सो जाते हैं।)

(सिद्धार्थ का प्रवेश)

सिद्धार्थ—(धीरे से) सो रहे हैं पिता (एक तरफ़ खड़े हो जाते हैं। देखते रहते हैं) जाना ही होगा। समुद्र से विशाल स्नेह को हमने नदी, नालों, स्रोतों, प्रपातों में बाँधकर छोटा कर दिया है, उसे फिर समुद्र बना देना होगा। विश्व की महान् कल्याण भावना को असीम बनाना होगा।

शुद्धोदन—(स्वप्न में बड़बड़ाते हुए) नहीं, अब वह संभव नहीं है। सिद्धार्थ मेरा है उसे कोई छीन नहीं सकता। कितना सुन्दर बालक है। मंत्री, अन्नकोश खुलवा दो। राज्य में कोई दरिद्री न रहे। (हँसते हैं) जाओ मंत्री जाओ। बेटा, सिद्धार्थ आज प्रजाजन कितना उत्सव मना रहे हैं। जाओ देखो। अपने दर्शन से उन्हें कृतकृत्य कर दो बेटा। जाओ। छंदक, युव-राज का रथ तैयार करो।

सिद्धार्थ—हमारे मनोरथों का आकाश कितना सीमित है। जाता हूँ। प्रणाम पिता! (चलने लगते हैं)

छायाचित्र—ठहरो, पिता को, पत्नी को, सद्यःजात बालक को इस तरह छोड़कर जाना क्या तुम्हारे जैसे वीर को शोभा देता है। तनिक देखो, यह वैभव, यह आनंद, यह उल्लास कहाँ मिलेगा?

सिद्धार्थ—कौन? (लौटकर देखते हैं। कोई नहीं है) यह सब अस्थायी है नश्वर है। मुझे अनश्वर की खोज में जाना होगा। जाऊँगा। पिता, पुत्र, स्त्री मुझे कोई भी नहीं रोक सकते।

छायाचित्र—अच्छा, एक बात सुनो, तुम्हें कौन सा दुख है? न तो तुम रोगी हो, न वृद्ध, न मृत्यु ही तुम्हारे सामने है। यह जीवन विशाल है, जब वह समय आवे तब सोचना। अभी तो यौवन का उपभोग करो। यौवन जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता है। सौन्दर्य यौवन का राशि राशि उल्लास! क्या यह सब कुछ भी नहीं है? नहीं, यही जीवन है।

सिद्धार्थ—यह कौन है, क्या है? यह मेरा असामर्थ्य जो बार-बार मुझे रोक रहा है। मैं नहीं रुकूँगा। देखो, देखो, मैं सहस्रों

नर-नारियों की दुखी पुकार, व्यथा से डूबे हुये श्वासोच्छ्वास के मेघों को चारों ओर घुमड़ते देख रहा हूँ। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सुख से सने हुए दुख के नग्न कंकालों को खिल-खिलाते देख रहा हूँ। उनके रोने, क्रन्दन, पीड़ा से मेरा हृदय फटा जा रहा है। मैं रुक नहीं सकता।

छायाचित्र—वह राजनर्तकी का नृत्य, सुकेशी का गीत, गोपा का आकर्षण यौवन, गौतमी का वात्सल्य प्रेम सभी कुछ छोड़-कर चले जाओगे !

सिद्धार्थ—हाँ, सभी छोड़कर जाना होगा। जाना ही होगा। रात के सुनसान में कोई पुकार रहा है चलो। जलघड़ी बूँद बूँद जल भरकर कह रही है चलो, चलो। तारिकाएँ जैसे हँस-हँसकर मुझे बुला रही हैं। काल के श्वास-प्रश्वास से एक ही ध्वनि उठ रही है, यही अवसर है। यही अवसर है। 'भूत' मुझे देख रहा है। वर्तमान कह रहा है चलो: भविष्य कह रहा है आओ। मैं जाऊँगा।

(एकदम चले जाते हैं)

शुद्धोदन—(उसी अवस्था में) कितना सुन्दर, सुखद, स्निग्ध प्रभात होगा आज। क्या कहते हो कल्याण। हाँ, कल्याण ही तो। कल्याण। पिता का कल्याण, पुत्र का कल्याण, स्त्री का कल्याण। मंत्री, अन्नकोश खुलवा दो। मेरे राज्य में कोई भूखा न रहे। हा हा हा हा ! रत्नहार बाँटो, स्वर्णहार वितीर्ण करो। यज्ञ, दान, तप, पूजा पाठ की व्यवस्था करो। मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। (एकदम प्रसन्नता के मारे आँखें खुल जाती हैं। देखते हैं, सवेरा हो रहा है। उषा का प्रकाश उग रहा है) प्रभात हो गया। यह चुप-

चाप क्यों ? बन्दीजन क्यों नहीं गा रहे हैं ? (ताली बजाकर) कोई है । (परिचारिका आती है) क्या बात है ?

परिचारिका—महाराज ।

शुद्धोदन—बोल, क्या बात है ?

परिचारिका—युवराज प्रासाद में नहीं हैं ।

शुद्धोदन—(उछलकर) कहाँ हैं, कहाँ गये ?

परिचारिका—चले गये । सब कुछ छोड़कर चले गये । छंदक भी नहीं है ?

शुद्धोदन—वही, फिर वही । गये (मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं)

छठा दृश्य

समय प्रातःकाल

[गोपा पर्यंक से उठ कर देखती है, युवराज की शय्या रिक्त है । अपने वस्त्रों को सँभालती हुई बालक की ओर देखने लगती है । वह सो रहा है । सोता हुआ कभी हँसता है, कभी चौंक पड़ता है । गोपा उसे एकदम गोद में लेकर प्यार करने लगती है । मुँह चूम लेती है । फिर सुला देती है । पास ही वीणा लेकर गाने लगती है ।]

गोपा— जागो राजदुलारे ।

समय बिखेरती, अचल हेरती,
खिला खिला कलि, हँसा हँसा अलि,
धीरे धीरे, मंद समीरे,
आती ऊषा, ले मंजूषा,
गीतों के तव द्वारे—जागो राजदुलारे ।

बीते तारे, कहीं किनारे,
विगत निशापति, मुदित दिवसपति,
नव आशाएँ, नव भाषाएँ,
जीवन जीवन, शैशव यौवन,
तुम्हें जगाते आ, रे—जागो राजदुलारे।
छलक छलककर, ललक ललककर,
निकल आँख से, नई पाँख से,
धीरे आते, रस भर जाते,
प्यार भिगोए, सपने सोए,
तेरे समय पर वारे—जागो राजदुलारे।

प्राणनाथ, अभी नहीं आए? (ताली बजाती है। एक परिचारिका आकर उपस्थित हो जाती है) देखो, आज प्रातः से युवराज कहाँ हैं! आज सवेरे मैं उनके चरणों के दर्शन न कर सकी।

परिचारिका—ज्ञात तो मुझे भी कुछ नहीं है, देवी। संभव है महाराज ने उन्हें बुलाया हो। नगर भर में बधाइयाँ बज रही हैं। द्वार-द्वार पर वंदनवार बँधी है। घर-घर में मंगलाचार हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न है। महाराज तो इतने आनन्दित हैं कि पिछले सप्ताह से उन्होंने कोश का मुख खोल दिया है। कोई याचक इच्छावस्तु लिये विना नहीं लौटा। आः कितने आनन्द का समय है।

गोपा—किन्तु प्राणनाथ इतने सवेरे ही क्यों चले गये? रात तो मैं स्वप्न देखकर डर ही गई थी। न जाने कैसा स्वप्न था वह।
(इस समय सब चुप क्यों हैं)

परिचारिका—स्वप्न का अर्थ ही असत्य है, मिथ्या है, भ्रान्ति है।

गोपा—सुकेशी कहाँ है ?

परिचारिका—अभी तो आई नहीं। बुलाऊँ क्या ?

गोपा—रहने दे, जी उदास हो रहा है। रह-रहकर जैसे कोई कचोट रहा है। इस बालक को देखकर हृदय को धीरज दे रही थी। कैसा मुख है बिलकुल उनकी आकृति हो जैसे।

परिचारिका—महारानी गौतमी ने नगरवासिनियों का देखना बन्द कर दिया है अन्यथा नगर की कोई स्त्री ऐसी न थी जो दर्शन न करना चाहती हो। जिन्होंने देखा है वे कहते हैं कि बालक दूसरे राजकुमार हैं। मैं तो मूर्ख हूँ पर इतना जानती हूँ, ऐसा सुन्दर बालक मैंने अपने जीवन में कोई नहीं देखा। भगवान् इसको आयु दें।

गोपा—सुकेशी भी नहीं आ रही है और सखियाँ भी न जाने क्या हुईं। सब ओर सुनसान देख पड़ता है। देख तो क्या बात है ? जरा शीघ्र देख, मेरा जी न जाने आर्यपुत्र के लिए क्यों इतना व्यग्र हो रहा है ? यह कौन आ रहा है ?

परिचारिका—देवी गौतमी।

(गौतमी चुपचाप आकर बालक को देखती है और सिद्धार्थ की शय्या पर पछाड़ खाकर गिर जाती हैं। गोपा घबराकर उठती है पर परिचारिका उठने से रोक लेती है। दो परिचारिकाएँ भी मूक होकर रानी की परिचर्या में लग जाती हैं।)

गोपा—क्या बात है, कोई बोलता क्यों नहीं। बताओ, शीघ्र बताओ मेरे जीवननाथ कहाँ हैं ? बोलो, कोई बोलो। यह सब कैसा सुनसान है। अंतःपुर के बाहर शहनाई बन्द हो गई है। सब लोग मूक क्यों हो गये हो ?

गौतमी—(संज्ञा प्राप्त करके) बेटी !

गोपा—माता जी, यह सब क्या है ? कोई बोलता ही नहीं है। जैसे वाणी मूक हो गई हो।

गौतमी—बेटा सिद्धार्थ, न जाने तुमने कब की शत्रुता निकाली।

गोपा—(चिल्लाकर) माता शीघ्र बताइये। मेरे प्राण मुँह को आ रहे हैं। क्या हुआ आर्यपुत्र को ?

एक परिचारिका—वे वन को चले गये।

गोपा—क्या कहा वन को ! हमको छोड़कर (एकदम पर्यंक पर गिर पड़ती है।)

दूसरी परिचारिका—देवी मूर्छित हो गई हैं माता जी ! (उपचार को दौड़ती है।)

गौतमी—जीवन में अब रह ही क्या गया है? एक आशा थी, वह भी बुझ गई, एक विश्वास था, वह भी उड़ गया। एक स्वप्न था, वह भी भंग हो गया। युवराज नहीं लौट सकते। वे वन को गये माँ को निरवलंब करके, पिता का हृदय कुचल कर, देवी गोपा को अनाथ करके। हाय ! अब यह किसके सहारे जियेगी। (मूर्छित हो जाती है।)

(गोपा संज्ञा प्राप्त करके एकदम मूक हो जाती है। आँखें फाड़ फाड़ कर देखती है। देखती रह जाती है। मौन मूक, निश्चल, जड़, स्पंदनहीन-जैसे सब कुछ इस नारी का चित्र बन गया हो। आँखों में प्रकाश है जैसी देखती कुछ भी नहीं है। इन्द्रियाँ जैसे स्थिर हो गई हैं। लोग घबरा जाते हैं। दौड़ धूप होती है। परिचारिकाएँ इधर-उधर दौड़ती हैं।)

एक परिचारिका—अनर्थ हो रहा है। महाराज उधर अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं। सुकेशी ने जब से सुना कि युवराज वन को

चले गये हैं, तब से वह बेचारी कई बार मूर्छित हो चुकी है। जैसे उसका सर्वस्व छिन गया हो। नगर भर पागल हो गया है। कुछ जंगल की ओर दौड़े जा रहे हैं। वे कहते हैं—'हम युवराज को मनाकर लायेंगे।' सारे नगर में इस समाचार ने नागरिकों को जड़ स्तब्ध बना दिया है। किन्तु देवी गोपा को क्या हो गया है। न कुछ बोलती हैं, न रोती हैं।

दूसरी परिचारिका—देवी को घोर कष्ट है। अत्यन्त कष्ट में मनुष्य की यही अवस्था होती है। देवी, देवी।

पहली परिचारिका—देवी, रानी जी देखिये, देवी की क्या दशा हो गई है। न बोलती हैं, न हिलती-डुलती हैं। (गौतमी डरती हुई सी गोपा के पास आकर उसे हिलाती डुलाती हैं, उसे पुकारती हैं पर गोपा चुप है।)

गौतमी—महाराज को बुलाओ। (परिचारिका दौड़ी जाती है) गोपा गोपा, गोपा। सुनो, देखो, महाराज की क्या दशा हो गई है। (शुद्धोदन विक्षिप्त अवस्था में आते हैं) महाराज, देवी की रक्षा कीजिए।

शुद्धोदन—वही हुआ जिसके लिये मैं डर रहा था। सब उपाय व्यर्थ हुये। सारी चेष्टायें निष्फल हुईं। ओः कितना सुन्दर मुख है। मैं कुछ नहीं कर सकता। (बालक की ओर देखकर) जीवन की संध्या में तुम शुक्र की तरह उत्पन्न हुए। किन्तु भविष्य के मेघों ने तुम्हें आच्छन्न कर लिया। अमावस है, घोर अमावस। इसका प्रातःकाल नहीं है। अनंत रात्रि। गोपा, बेटी गोपा। घबराओ मत, युवराज लौटेंगे।

गोपा—(चुप)

गौतमी—बेटी गोपा। देखो !

शुद्धोदन—बेटी गोपा।

गौतमी—गोपा।

गोपा—(चुप)

गौतमी—ज्ञात होता है यह राजकुमार के वियोग में प्राण दे देगी।

शुद्धोदन—मुझे कुछ नहीं सूझता। मैं अन्धा हो गया हूँ गौतमी। गोपा ! (परिचारिका दौड़कर बच्चे को रुला देती है और गोपा की गोद में डाल देती है। बालक जोर जोर से रोता है। गोपा धीरे धीरे संज्ञा प्राप्त करके बालक की ओर देखती है और रोने लगती है) बस, अब ठीक है। ठीक है। आजीवन रोने के लिये इसका जीना आवश्यक है। रो, रो। तू भी रो, मैं भी रोऊँ। संसार रोवे। आओ इतना रोवें कि राजकुमार तप करते हुए बहकर हमारे पास आ जावें।

म· पहाराज, अधीर न हों, सिद्धार्थ साधारण व्यक्ति नहीं हैं। ने संसार का दुख दूर करने आये हैं।

शुद्धोदन—हाँ मंत्री, वे हमारे नहीं हैं, वे संसार के हैं। किन्तु मेरा विश्वास है, एक दिन वे लौटेंगे अवश्य। मैं उसी दिन की प्रतीक्षा करूँगा। निर्निमेष पलक खोलकर आँखें, फैलाए।

(पर्दा गिरता है)